विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ५

पथचिह्न

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

कहानी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

नवम्बर सन १९५४

माँ

को

जिनका परिचय बहिन में मिला

यदक्षर-पदभ्रष्टं मात्राहीनं तु यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि काश्यप-प्रियवादिनि ॥

दो शब्द

[प्रथम संस्करण के अवसर पर]

'पथचिह्न' में मैंने अपनी स्वर्गीया बहिन को भारतमाता की आत्मा के रूप में स्मरण किया है। उसी के व्यक्तित्व को केन्द्रविन्दु बना कर अपने जीवन और युग की समस्या को स्पर्श किया है। इस प्रकार यह पुस्तक व्यष्टि से समष्टि की ओर है।

सम्प्रति मेरे लिए व्यक्ति और विश्व की समस्या एक है, अतएव दोनों का समाधान भी एक है : संस्कृति एवं कला।

आज मन्दिरों, मसजिदों और गिरजाघरों में संस्कृति निस्पन्द है, म्युजियमों और संग्रहालयों में कला निश्चेष्ट। दैनिक सामाजिक जीवन में जब तक इनका समावेश नहीं होगा, जनसाधारण का अन्तःकरण तमोमूढ़ ही बना रहेगा।

संस्कृति और कला की अन्तश्चेतना जगाने के लिए सर्वसुगम रचनात्मक कार्य्यक्रम की आवश्यकता है। इसी दिशा में मैंने तरुणों, कलाकारों और समाज के धनीधोरियों का आह्वान किया है।

भविष्य नवयुवकों पर ही निर्भर है, अतएव उनसे साहित्य, संस्कृति, कला के क्षेत्र में रचनात्मक प्रतिभा लेकर अग्रसर होने का विशेष अनुरोध है।

अनवरत कार्यव्यस्त होते हुए भी आदरणीय गुरुजन पण्डित केशव-प्रसाद मिश्र (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष) ने पुस्तक का 'पूर्वाभास' देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

पुस्तक बड़ी प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रकाशित हो रही है। सार्वजनिक परिस्थितियाँ तो स्पष्ट हैं, किन्तु वैयक्तिक परिस्थितियाँ अकथनीय हैं। सन्तोष इतना ही है कि देर-अबेर पुस्तक पाठकों के हाथ में पहुँच रही है। कई कारणों से मुझे विश्वास है कि यह उन्हें बहुत रुचेगी।

लोलार्क कुण्ड (भदैनी)
बनारस सिटी।

—लेखक

पुनरावृत्ति

'पथचिह्न' का यह दूसरा संस्करण पाठकों के हाथ में है। जिस समय इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था उस समय पुण्यश्लोक गान्धी जी जीवित थे और भारत स्वतन्त्रता के द्वार पर पहुँच रहा था। तब से कितने वर्ष बीत गये! जीवन की समस्याएँ आज भी ज्यों की त्यों हैं। परिवर्त्तन केवल यह हुआ है कि एकदेशीय समस्याओं ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। संहार या निर्म्माण, युद्ध या शान्ति, इस समय बड़ी-बड़ी राजनीतिक शक्तियाँ यही निपटारा करने में लगी हुई हैं।

ऐसे वातावरण में 'पथचिह्न' की क्या सार्थकता है? इसमें लोकजीवन के निर्म्माण का पथनिर्देश है। इसके द्वारा हम निश्चित कर सकेंगे कि युग ने सचमुच कितनी प्रगति की है।

'पथचिह्न' का दृष्टिकोण समाज और संस्कृति की तरह स्थायी एवं रचनात्मक है। यह भारत के शान्तिपक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। इस अशान्त और अव्यवस्थित युग के बाद जीवन का जो स्वाभाविक निर्म्माण होगा, उसे ही 'पथचिह्न' ने अपने चित्रपट पर समय के पहिले आँक लिया है। आने वाला प्रकृतिस्थ युग ही बतला सकेगा कि इसमें कितनी प्रभविष्णुता थी।

इति शुभ।

काशी,
८ जून, १९५५

—लेखक

पूर्वाभास

शान्तिप्रिय ने अपने समस्त जीवन की बीजकथा 'पथचिह्न' में यों कही है—हम दो थे, भाई और बहिन। वहिन ने अपनी 'आहुति' दे डाली, मैं ही अपने 'अभिशापों की परिक्रमा' करता रह गया हूँ। क्या करूँ! अन्तर्दृष्टि पिता की तटस्थता का दाय पाकर भी संसार का 'पर्य्यवेक्षण' करता हूँ, बिना किये कैसे रहा जाय? अमेरिका कहता है—गॉड इज ग्रेट, बट् डॉलर इज ऑलमाइटी, (ईश्वर बड़ा है, लेकिन सिक्का सर्वशक्तिमान है), भला ऐसी दुर्मति का क्या प्रतीकार करूँ? इसी अर्थपूजा ने तो इतने अनर्थ मचा रक्खे हैं—

'वर्त्तमान आर्थिक माध्यम में प्रत्येक वर्ग वैश्य और प्रत्येक कर्म्म वेश्या-व्यापार बन गया है।'–पृ० ७६।

इसलिए हे 'साहित्य-सङ्गीत-कला के अधीश्वरो! देखो, आज दिशा-दिशा में ज्वाला धधक रही है, तुम्हारी सृष्टि का नन्दनवन भस्मसात् हो रहा है। इस युगव्यापी दावाग्नि से विकल होकर खग, मृग, मधुप, व्याघ्र : कल-कोमल कराल वन्यजीव ही नहीं, बल्कि पुच्छविषाण-रहित मानवतनुधारी द्विपद पशु भी दिग्भ्रमित हो रहे हैं, सब आपस में एक दूसरे को दलते-कुचलते, क्रन्दन-कोलाहल करते इधर-उधर अव्यवस्थित गति से आश्रय की खोज में दौड़ रहे हैं।

तुम एककण्ठ, एकस्वर होकर कहो—प्राणित्त्व का आश्रय प्राणियों के भीतर है। मनुष्य अपने इस 'अन्तःसंस्थान' को भूल कर पशुओं की तरह

लोभवश बाहर भटक रहा है। उसके लोभ की ही हिंस्र दृष्टि ज्वाला बन कर आज सारे अग-जग को जला रही है।'

... ...

No................

प्रवृत्ति से ब्रह्मनिष्ठ और स्वभाव से निस्पृह 'दुर्बली महाराज' इसकी प्रतीक्षा न करते कि कोई उनका आवाहन करे तो वे उपस्थित हों। उनका मन जिधर उन्मुख होता शरीर भी उधर ही जाता। किसी के यहाँ पहुँचने पर अभ्युत्थान या अभिवादन के प्रति निर्म्मम वे धरती या धवलासन जहाँ चाहते वहीं यथेष्ट विराज जाते। अपरोक्ष अनुभूति के कुछ रहस्यमय सूत्र कहते और बिना अनुज्ञा लिये ही वहाँ से चल देते। उनकी इस दोटप्पी प्रक्रिया से बुध तो अवश्य लाभ उठाते, पर अबुध पागलपन ही समझते। त्रिसन्ध्य अदैन्य का प्रार्थी मेरा सुपरिचित और श्रद्धास्पद यह ब्राह्मण दूर्वादल खाकर रह जाता, पर किसी के सामने दीन बन कर याचना न करता।

इन्हीं ब्राह्मणदेवता के सुपुत्र हैं-पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी, हिन्दी के सुलेखकों में परिगणित। शान्तिप्रिय की विद्याबुद्धि केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही उपजी, पनपी और बढ़ी है। हिन्दी में भी अब अच्छा वाङ्मय प्रस्तुत हो गया है। केवल हिन्दी-साहित्य का कोविद भी निष्णात निर्णय दे सकता है। फिर शान्तिप्रिय में अपनी नैसर्गिक प्रतिभा तो है ही।

व्रतवती बालविधवा बहिन के सकरुण और निर्भय अनुशासन में पनपे शान्तिप्रिय में मनस्विता है, पैतृक स्वच्छन्दता और विचारशीलता भी। इनका निसर्ग तो सोलहो आने भारतीय है ही, पर संस्कार तरल और सर्वतोमुख होकर भी तटस्थ है, आत्मसंस्थ है।

मुझे सन्तोष है कि 'पथचिह्न' में यह सर्वतोमुखता बहुत कुछ संयत होकर एकमुख हो गई है। संयम की मूर्त्ति और भारतीयता की प्रतिकृति बहिन के 'स्मृति-चिन्तन' ने ही तो शान्तिप्रिय से संस्कृति और कला की ऐसी मञ्जुल पुस्तक लिखवाई। इस पुस्तक में भावुक मन और तत्पर-बुद्धि के समागम का मधुर परिपाक है। इसका क्रियाकल्प (रचनाप्रकार) नवीन और अत्यन्त रुचिर है। इसमें कृतिकार के निर्माणसंकल्प का क्रमिक विकास और उसका रूपविन्यास अत्यन्त मनोहर और हृदयङ्गम हुआ है। इसकी शैली सम्पन्न, अनुरूप, भावप्रवण तथा व्यञ्जक है। पृष्ठ-पृष्ठ पर ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं।

कहीं-कहीं शान्तिप्रिय जी ने ऐसे गूढ़ तथ्य का भी कथन किया है जो सर्वथा मननीय ही नहीं, उपादेय भी है—

'आत्मोन्नति के लिए सबको एकसमान सुअवसर और सुविधा मिले, वह इसके पक्ष में थी, किन्तु आर्थिक प्रतिक्रिया को धार्मिक प्रतिक्रिया बनाना उसे अभीष्ट न था। आर्थिक दृष्टि से वह सवर्ण, असवर्ण, स्त्री, पुरुष, सभी के जीवन को पतित समझती थी, इन सभी का उद्धार चाहती थी।'—पृ० २८।

सचमुच आये दिन ऐसे बहुत से कर्म्म हो रहे हैं जो मूलतः आर्थिक हैं, पर बताये जाते हैं धार्मिक! इससे अनाचार और छद्माचार की अत्यन्त घातक वृद्धि हो रही है।

वसिष्ठ ने अपने धर्मसूत्र में धर्म की बड़ी सटीक परिभाषा दी है—'अगृह्यमाणकारणो धर्मः' (वासिष्ठधर्मसूत्र ७), अर्थात्, जिसका कारण पकड़ में न आये वह धर्म है। फलतः जिसका कारण पकड़ में आ जाय वह धर्म नहीं हो सकता, अर्थ या जो कुछ हो।

परमात्मा ने मानव को सच्चा मानव होने के दो वर दिये हैं-बुद्धि और श्रद्धा। बुद्धि सभी प्रकार के व्यवहारों का कारण है। निर्बुद्धि तुच्छ काम भी अच्छा नहीं कर सकता। इसीसे बुद्धि को महत्तत्व होने का गौरव मिला है। हेतुवाद और प्रज्ञावाद इसके दो प्रधान आयुध हैं जिनके द्वारा यह उथल-पुथल मचाया करती है। ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि-आदि इसके क्रीड़ाक्षेत्र हैं। यह श्वेत को श्याम और श्याम को श्वेत कर सकती है। यह क्या? कहाँ? कैसे? जैसे प्रश्नों की झड़ी लगाया करती है और उनके उत्तर देने में आकाश-पाताल एक किया करती है। सही, लेकिन इससे तर्क-वितर्क का ताप बढ़े तो बढ़े, तृप्ति की शीतलता कभी न मिलेगी। अतः इसको सात्म्य और अनुकूल करने के लिए दूसरा वरदान—श्रद्धा है। बुद्धि मस्तक और श्रद्धा हृदय से सम्बद्ध है। श्रद् हृद् का ही रूपान्तर है, अतः श्रद्धा का अर्थ है—हृदय का धारण और पोषण। श्रद्धा वस्तुतः सब प्रकार के भावों का प्रतीक है। श्रद्धा अथवा साध से संपादित कर्म्म ही समर्थ होता है, सफल होता है-'यदेव श्रद्धया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छान्दोग्य०)। बुद्धि और श्रद्धा के असामञ्जस्य से ही संसार में नाना प्रकार के उत्पात खड़े होते हैं। बुद्धिवादी मानव जब श्रद्धा का अनुशासन नहीं मानता और हृदय-हीन होकर वर्त्तमान युग के सबसे बड़े लक्ष्य 'अर्थ' को ही परमार्थ समझ कर स्वायत्त करना चाहता है तभी ऐसा दुरन्त संघर्ष उठ खड़ा होता है। इस दावाग्नि का शमन श्रद्धा ही करती है—

जहाँ मरु ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियों की मैं सरस बरसात रे मन !

('कामायनी' : श्रद्धागीत)

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने इसी अवमानित श्रद्धा के भाव को संस्कृति और कला के माध्यम से पुनः प्रतिष्ठित करने की विचारणा शत शत भावप्रवण वचनों में उपस्थित की है।

वे आज कल की शिक्षा-दीक्षा से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी यह आकांक्षा है कि जैसे आधुनिक विद्यालयों से विद्यास्नातक निकलते हैं वैसे ही व्रतस्नातक भी निकलें, क्योंकि संसार को इस समय व्रतियों की आवश्यकता अधिक है। रामचन्द्र 'सम्यग् विद्याव्रतस्नातः' थे। इसीलिए रामराज्य सुख-समृद्धि का प्रतीक माना जाता है।

मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक जैसे मुझे प्रिय लगी है वैसे ही मेरे समानधर्मा प्रत्येक पाठक को प्रिय लगेगी।

शान्तिप्रिय ने अपने हृद्गत भावों की तात्त्विक व्यञ्जना के लिए कुछ नये शब्दों की भी सृष्टि की है जो श्लाघ्य है। कहीं-कहीं कुछ शाब्दिक त्रुटियाँ रह गई हैं जिनका संशोधन आवश्यक है।

काशी,
१९-१२-४६।

केशवप्रसाद मिश्र

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	शोधित
५	१	मोहकुर	मोहाङ्कुर
२१	२	साढ़ियों	साड़ियों
२८	१०	आन्दोलन	आन्दोलनों
५८	१९	काल-भय का,	काल-भय था,
८४	१७	-निर्देशक रता है	-निर्देश करता है
८६	१३	प्रणव	प्रवण
९१	१	वसे	वैसे

—०—

अनुक्रम

पथचिह्न

स्मृति-चिन्तन

आज भैयादूज है। आज मैं बिना बहिन का भाई हूँ। माता-पिता-विहीन निःसम्बल शैशव जिसके स्नेहक्रोड़ में हँसा-खेला, जिसने नन्हें-से कुड्मल को अपनी आत्मा के अमृत से सींच-सींच कर पल्लवित किया, जिसने अपनी साधनाओं का संसार आसीस की तरह भाई के चारों ओर परिवेष्टित कर दिया, आज वह बहिन नहीं है। मेरी वह बालविधवा बहिन—वह मूर्तिमती तपस्या, वह साक्षात् पवित्रता, वह जीवित करुणा, वह मेरी रामायण, वह मेरी गीता, वह मेरी गंगाजली !

आज हूँ सर्वथा एकाकी, आज हूँ उजाड़खण्ड का एक बिरवा ! बहिन, जनम-जनम से ऐसी ही तो तुम थीं, आज मैं तुम्हें अपने में पाता हूँ, आह ! कितने आँसुओं को वात्सल्य बना कर तुमने अपना सूनापन भरा था।

बहिन, तुम कल्पवती थीं, तुम युग-युग अजर-अमर हो, आज तुम्हारी करुणा अदेह होकर भी इस पृथ्वी के दुःखदैन्य में सदेह है। पृथ्वी के कोटि-कोटि दरिद्रनारायणों में मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम उन्हीं के बीच सुजलाम् सुफलाम् शस्यश्यामलाम् होकर उगो, मलयजशीतलाम् होकर उनके सन्तप्त हृदय का परस करो :

'जीवन प्रात-समीरण-सा लघु
विचरण-निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो।'

काशी,
१९३९।

वह स्वर्गीय निधि

मेरे शून्य जीवन में भी एक निधि थी—बहिन, जैसे बहिन के लिए माँ।

मैं शिशु से किशोर हुआ, किशोर से युवक। किन्तु मैंने जाना ही नहीं कि कब शैशव छोड़ कर वयस्क हो गया, मस्तक पर बहिन के वात्सल्य का अञ्चल जो था ! उसकी साया में यह नन्हा-सा बिरवा जीवन ही जीवन पा रहा था। जीवन के अतिरिक्त संसार में और भी कुछ है, यह मैंने नहीं जाना था; न आयु, न मृत्यु। जीवन के असीम सागर में आयु और मृत्यु कुछ सीमाएँ ही तो हैं। इन सीमाओं का आँकलन वे ही करते हैं जो जीवन में बहुत भयभीत रहते हैं और उसके खो जाने के भय से उसका हिसाब प्रतिपल आयु और मृत्यु से लगाया करते हैं, जैसे आय और व्यय का। ऐसे हिसाबियों के सम्मुख कोमल अञ्चल में पला हुआ शिशु उनकी सृष्टि में एक विडम्बना ही तो हो सकता है।

लोगों ने अपने हिसाबी स्वर में मुझसे भी पूछना शुरू किया—तुम्हारी उमर क्या है जी ?

मैं सशंक हुआ—अच्छा तो अब मेरी भी उमर पूछी जा सकती है !

मैं क्या जानूँ मेरी उमर क्या है ! बहुत छुटपन में माँ मरी थीं, तब मैं रोया था माँ के दूध के लिए। मेरे अबोध आँसुओं को पोंछने के लिए माँ से भी करुण कोमल एक स्नेहाञ्चल बढ़ आया था बहिन का। मैंने अदृश्य का छोर पकड़ कर कहा—बहिन !

बहिन ने मानों जीवन का एक नन्हा-सा मोहकुर पाकर कहा—मेरे इगतारा !

माँ का पार्थिव शरीर न रह जाने पर भी माँ की ज्योत्स्ना मुझे मिली बहिन में। इतने नवनीत-हृदय में जो हँसा-रोया हो, स्वयं वास्तविकता की पृथ्वी पर सरिता की तरह बह कर जिसने मुझे अपने आँसुओं में कुमुद की भाँति खिलाया हो, उस बहिन का भाई दुनिया के सवाल का भला क्या जवाब दे। दुनिया के सवाल मेरे लिए उतने ही अबूझ हैं जितना कि दुनिया के लिए अबोध अन्तःकरण।

बहिन से पूछता—बहिन, मेरी उमर क्या है ?

उंगलियों पर मानों दुःख की घड़ियों, अश्रु की अविरल झड़ियों को जुगो कर वह कहती—अरे, तू मुझसे बारह बरस छोटा है रे !

इससे मैं क्या जानूँ कि मेरी बहिन मुझसे कितनी बड़ी है, या, मैं उससे कितना छोटा। मैं लोगों से यही कह दूँ—मुझे मालूम नहीं अपनी उमर। या कहूँ, जीवन के पथ में मैं अपनी बहिन से बारह वर्ष छोटा शिशु हूँ। मैं बारह वर्ष पीछे के नन्हें पैरों से उस करुण साधना का अनुगमन कर रहा हूँ।

लेकिन लोग तो इसे समझेंगे नहीं। समझते तो पूछते क्यों। क्या उमर पूछ-पूछ कर लोग मुझमें भी बलात् सयानापन जगाना चाहते हैं, चाहते हैं कि मैं भी सयाना होकर उन्हीं की तरह भूलूँ-भटकूँ और वे औरों की तरह मुझे भी नोचने-कचोटने का सुख लें !

मुझे तो यह सब अटपटा-सा लगता है। मैं क्या जानूँ अपनी आयु का कैलेन्डर, जब कि मुझे आज की तारीख ही याद नहीं रहती। मैं जानता हूँ, सुनो, मैं अपनी बहिन का बारह वर्ष छोटा अनुज हूँ, अर्थात् अपने से बड़ी कोमलता का तुहिन-विन्दु।

किन्तु आह, क्या अब भी मैं यही कह सकता हूँ ! वह वात्सल्यमयी तपस्विनी आज कहाँ है ?—

'मानस को उथल–पुथल करके
गंगाजल को उज्ज्वल करके
तू किधर गयी, उड्डीन हुई
हा, किस अनन्त में लीन हुई !'

जैसे माँ के पीछे पीछे कोई शिशु अपने नन्हें-नन्हें पगों से दौड़ता हुआ चला आता हो और एकाएक उसके ओझल हो जाने पर शून्य में बिलख पड़ता हो, आज उसी प्रकार मेरे शिशुप्राण क्रन्दन कर उठे हैं—अथाह मूक क्रन्दन !

आज मैं जानता हूँ, मृत्यु क्या है। लेकिन अपनी आयु तो मैं आज भी नहीं जानता। हां, अब भी मैं अपनी बहिन से बारह वर्ष छोटा हूँ, बारह वर्ष बाद भी मैं उससे इतना ही छोटा रहूँगा, मानों जीवन के पथ में वह मुझे आगे के पदचिह्नों की ही वसीयत छोड़ गयी है।

काशी
मार्च, १९४०

आहुति

उस दिन अँधेरे मुँह जब किसी ने मुझे जगाया, तब वह मेरे लिए प्रभात का प्रफुल्ल प्रकाश लेकर नहीं आया था, उसने अपनी विवर्ण मुखाकृति से जो मूक सन्देश दिया वह सन्देश अन्धकार को ही घनीभूत कर गया।

···अभी कल सायङ्काल ही तो मैं उसे देख आया था, वह अभिजात चेतना उसी देवीत्व से कराह रही थी, मानों विधाता से कह रही हो—प्रभु, क्या तुमने सीताजी की अग्नि-परीक्षा इसी तरह ली थी !

अँधेरे मुँह जब मैं उसे अन्तिम प्रणाम करने पहुँचा, तब तक तो वह अपनी काया का पिंजरा छोड़ कर उस रश्मिविहंगिनि उषा की तरह तिरोहित हो गई थी जो धुँधले-धुँधले में ही विलीन हो जाती है।

उसके शव के समीप खड़े होने पर भी विश्वास नहीं हुआ कि वह चली गई !—जन्म से लेकर अब तक वह ऐसी प्राणवन्ती कल्पवती होकर मेरे अन्तःकरण में, जीवन के क्षण क्षण में व्याप्त थी कि उसके अभाव का अनुभव सहसा नहीं हो सका, मैं रो भी नहीं सका।

जब मैंने उसका मुखमण्डल देखा तब उस मृत्यु-कवलित मुख पर निर्वापित दीपशिखा की धूमिल तमिस्रा नहीं थी, उसका मुखमण्डल तो स्वर्णाभा से दमक रहा था, उसने मृत्यु को भी अशोभन नहीं होने दिया। वह तो वही सुवर्ण उषा थी जो दिगन्त में विलीन होकर भी अपनी अन्तःसंज्ञा से चिरद्युतिमान रहती है।

··· ··· ···

शिव की हवन-भूमि में जब उसका शव चिता पर रख दिया गया, तब उस कोमल कमनीय वन्दनीय व्यक्तित्व को अग्नि का स्पर्श देने के लिए मन प्रस्तुत नहीं हो सका। कहाँ वह देवकन्या-सी काया, कहाँ वह कराल राक्षसी-सी चिता ! ओह, विधि का विधान क्या ऐसा ही अतु-कान्त है ?

मोह से विक्षिप्त होकर मैंने कहा—उसके मुख से मृत्यु का अवगुण्ठन (शवाच्छादन) हटा दो, मैं उसे देखूँगा। मुझे देखने दो, रोको मत।

···देखा, मुखमण्डल पर वही द्युति थी, वही दीप्ति ! मानों अर्चना की स्वर्ण कमलिनी अभी अभी मृणाल-तन्तु से टूट गई हो ! अरे, इसे शुष्क तृणों की तरह कैसे छार-छार हो जाने दूँ ?

जिसकी मृदुल पलकों को मैं एक ओसविन्दु (अनुज शिशु) होकर अभिषिक्त किये हुए था आज उसी को अग्नि की यह कराल दाहकता कैसे दे दूँ !—किन्तु 'तुझको रे क्या कहें नियति !'—मैंने विवश होकर बहिन की चिता में अग्नि की लौ डाल दी।

धधकती चिता की लपटों में मैंने देखा—बहिन का सम्पूर्ण जीवन इसी तरह भीतर ही भीतर जलता-तपता रहा।

···छुटपन में ही वह विधवा हो गई थी। उस अवोध वय में उसने जाना ही नहीं कि उसके भाग्य-क्षितिज में क्या पट-परिवर्त्तन हो गया ! जन्मकाल से माँ का जो अञ्चल उसके मस्तक पर फैला हुआ था, सयानी होने पर उसने वही अञ्चल अपने मस्तक पर ज्यों का त्यों पाया, मानों शैशव ही उसके जीवन में अक्षुण्ण हो गया।

अचानक एक दिन जब वह अञ्चल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया, तब उसके जीवन में मध्याह्न की प्रखर ज्वाला के सिवा और क्या शेष रह गया था !

एक दिन माँ की अन्तिम शय्या के पास हृदय का बाँध तोड़ कर उसके क्रन्दन का जो अविरल अश्रु-स्रोत उमड़ पड़ा था उसी से अपने जीवन-पथ को सिक्त कर वह माँ के पद-चिह्नों पर चलती रही। अपने मस्तक पर युगों का सन्ताप धारण कर और दुधमुँहे भाई के मस्तक पर माँ से पाया हुआ स्नेह-तरल अञ्चल फैला कर वह महामरण की इस लीला-भूमि में जीवन की अलख जगाये रही।

···कहते हैं, शरीर पञ्चभूतों में मिल जाता है, आत्मा अविनाशी रहती है, वह ग्रन्थ के जल जाने पर भी अक्षर-तत्त्व की तरह सर्वत्र व्याप्त है। फिर क्या आत्मा को ही आराधें, उसका वह सगुण-रूप विस्मृत कर दें? फिर मृत्युञ्जय शिव भी सती का शव हाथों में लेकर घूमते हुए विकल-विक्षिप्त क्यों हो गये थे?

यदि अक्षर-तत्त्व (निर्गुण) ही जीवन का निष्कर्ष है तो देवी-देवताओं की ये इतनी मूर्त्तियाँ क्यों हैं? नहीं, नहीं, वह तो मूर्त्ति नहीं थी; उसमें स्पन्दन था, प्राणों का प्रस्फुरण था। वह सगुण-चेतना थी। वह पञ्चभूतों की तरह ही सजीव थी—उसमें पृथ्वी की वत्सलता, सरिता की सजलता, अग्नि की तेजस्विता, गगन की व्यापकता और समीर की गतिशीलता थी।

आज जब कि वह पञ्चभूतों में ही बिखर गई, उसे जड़-उपकरणों में समेट कर उसकी मूर्त्ति की स्थापना भी कैसे करूँ? जो गङ्गा-जल को भी उज्ज्वल करके चली गई, भला उसकी मूर्त्ति हो भी क्या सकती है!

पञ्चभूतों से मुक्त होकर रह गई वह केवल चिन्मयी ज्योति। पूर्णिमा की इन्दुकला होकर वह अपनी आभा का आभास अब भी इस दृश्यजगत् में दे जाती है। पूनो के प्रकाश में, गंगा-जल के प्रवाह में, उर्मियों के साथ जब मैं उसे रिलमिल रिलमिल सजल-द्युति विकीर्ण करते देखता हूँ

तब उस ज्योति-समारोह को देख कर विह्वल हृदय उद्गीर्ण हो उठता है—'महानन्द का होता है क्या ऐसा ही उल्लास !'

कहते हैं, पृथ्वी पर सबसे निरीह प्राणी हैं गौ और कन्या। दोनों वसुन्धरा की तरह ही सर्वसहा विश्वम्भरा हैं। वह इन्दुकला, वह चिन्मयी ज्योति, पृथ्वीतल पर कन्या होकर आई थी। अपनी लघिमा में जगज्जननी की गरिमा प्रतिविम्बित कर गोलोकवासिनी हो गई। रह गया मैं उसके अस्तित्त्व का एक सर्वहारा साक्षी।

... ...

बहिन ने मेरे जीवन में अन्नपूर्णा होकर प्रवेश किया था। बहुत छुटपन की बात है—

माँ ने खाना परोसा। मुझे आधी रोटी दी, बहिन को दो रोटी।

मैं मचल गया—मैं भी दो रोटी लूँगा।

माँ बिगड़ गई—खायेगा नहीं, खराब कर देगा।

लेकिन मेरा हठ देख कर दो रोटी मुझे भी दे दी। मैं आधी रोटी खाने के बाद हिम्मत हार गया।

माँ ने कहा—नहीं खायेगा तो मार खायेगा।

मैंने रुआँसी आँखों से बहिन की ओर देखा। बहिन ने अपनी गोद में उठा लिया। उसने पुचकार-पुचकार कर दोनों रोटी खिला दी।

उस समय कौन जानता था कि मेरे लिए माँ का दायित्त्व शीघ्र ही उसके मस्तक पर आने वाला है। मुझे वह दिन याद है जब मैं माँ के दूध के लिए मचल पड़ा था—माँ के पास जाऊँगा, दूध पीऊँगा।

बहिन ने कहा—माँ बीमार है, उसके पास न जाना भैया !

'माँ अच्छी हो जायगी तब दूध पिलायेगी न ?'

'हाँ, रे !'

किन्तु दूसरे दिन प्रातः मैंने देखा, बहिन निष्पंख पक्षी-सी तड़फड़ा तड़फड़ा कर पृथ्वी को अपने आँसुओं से आर्द्र कर रही है। शूल-विद्ध शरीर जैसे छटपटा कर प्राणमोचन चाहता हो उसी प्रकार वह अस्थि-पिञ्जर को छोड़ कर माँ के पीछे-पीछे, बड़ी नाव के पीछे छोटी नौका की तरह, चली जाना चाहती है। ओह, वह दुस्सह क्रन्दन, वह निःसहाय तड़पन, वह विवश पार्थिव शरीर-बन्धन और आगे यह दैनन्दिन जीवन !—'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी रे !'

···माँ चली ही गई, पिता माँ के जीवन-काल में ही संन्यासी हो गये थे।

पिता जी ब्रह्मजीवी थे। जान पड़ता है, उन्हें आत्मा का वह नाभिमूल बोधगम्य हो गया था जहाँ से संस्कृति का शतदल प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृत पढ़ने आये थे, किन्तु एकमात्र अक्षर-सत्य ॐ को पहिचान कर अन्तर्लीन हो गये। वे सचमुच ब्राह्मण थे, इस युग के चतुर्वर्णों की तरह व्यवसायी नहीं; फलतः अपने धर्म्माश्रित कुटुम्ब को बिना कोई सुदृढ़ लौकिक आधार दिये ही वे रामभरोसे वनवासी हो गये। उनके इस संसार-त्याग से उनका कुटुम्ब बिना कुलपति के गुरुकुल की भाँति निरवलम्ब हो गया।

यद्यपि पिताजी हमारे लिए कोई लौकिक सम्पत्ति नहीं छोड़ गये, तथापि अपने मानसिक संस्कारों की छाप हमारे हृदयों पर अवश्य छोड़ गये थे। वे तपोधन थे।

माता-पिता की रिक्त पगडंडियों पर हम भाई-बहिन उनके शेष-चिह्न रह गये। इनमें से एक थी बालिका, दूसरा था तुतलाता शिशु। जिस दिन माँ का अञ्चल उसकी किशोर उँगुलियों से छूट गया उस

दिन पुत्र-तुल्य तुतले अनुज के कारण ही वह पृथ्वी पर बनी रही, अपार शोक के असह्य भार से पृथ्वी में समा नहीं गई। बालिका ही थी, फिर भी करुण-कोमल-गम्भीर उत्तरदायित्व के कारण एक साथ ही उसमें विविध व्यक्तित्वों का समावेश हो गया—माता, पिता, बहिन। इस सम्मिलित व्यक्तित्व ने उसके जीवन को एक साथ ही बचपन, यौवन और प्रौढ़ता की समष्टि दे दी—मानों सरलता, मधुरता और गम्भीरता की वह त्रिवेणी हो गई!

'''जन्म से ही बधिर होने के कारण बहिर्जगत से वञ्चित तो था ही, बहिन ने भी चारों ओर से मुझे आमण्डित कर वस्तुजगत के आँधी-पानी को ऊपर ही ऊपर बह जाने दिया। बहिन के सिवा शेषजगत के साथ मेरा रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका। निखिल सृष्टि मेरे लिए बहिन में ही केन्द्रित हो गई थी, मानों प्रकृति महामानवी हो गई थी।

सोते समय बहिन मुझे अपने हृदय से लगा कर सोती थी। इस तरह छुटपन से मेरे अन्तःसंस्कारों में बहिन के ही स्पन्दनों का सञ्चार होता गया। मेरे बहिर्जगत में जिसने अन्नपूर्णा होकर प्रवेश किया था, अन्तर्जगत में वही श्रीशारदा होकर अधिष्ठित हुई थी।

किन्तु, वयस्क हो जाने पर भी उसके निकट मैं उस अटपटे शिशु की तरह ही था जो बेसमझे-बूझे मर्म्माघात कर बैठता है—

'बालकों का-सा मारा हाथ
कर दिये विकल हृदय के तार।'

उसके हृदय के तार जब विकल हो उठते तब उसकी दृष्टि चारों ओर शून्य में तैर कर माँ की स्मृति में डूब जाती। बिलख कर कह उठती—माँ के सिवा मेरा कोई नहीं।

माँ उसके हृदय की अतल-गहराई में बसी हुई थीं। माँ के सिवा उसे और किसी से ममता मिली कहाँ! आज मैं उसकी मनोवेदना को, उसकी मातृव्यथा को, समझ सकता हूँ। आज मैं भी तो कहता हूँ—बहिन के सिवा मेरा कोई नहीं।

मेरे उपद्रवों में भी उसे मेरे ऊपर करुणा आ जाती। कहती—अरे, तू तो मुझसे भी अभागा है। मैंने तो माता-पिता का सुख जाना, तूने कुछ भी नहीं।

लेकिन मुझे तो माता-पिता की सारभूत आत्मा बहिन मिली थी। आज जब कि वह भी नहीं रही, तब ऐसा जान पड़ता है कि बहिन ने जीवन के इन्हीं निर्जन दिनों का आभास पाकर कहा था—तू तो मुझसे भी अभागा है!

... ...

जो स्वयं निःसहाय शिशु था, वह भला दुःखिनी बहिन का सम्बल कैसे हो सकता था। संन्यासी हो जाने के कारण जैसे पिता जी माँ की गृहस्थी को निरवलम्ब छोड़ गये, वैसे ही बहिन के जीवन को मैं भी कोई अवलम्ब नहीं दे सका। किन्तु वह आद्याशक्ति की तरह स्वावलम्बिनी पृथ्वी-कन्या थी, पृथ्वी की स्वाभाविक गति से ही जीवन्त हो गई। जो जन्म से ही जगदम्बा है, उसे अवलम्ब देने वाला बड़भागी संसार में कोई नहीं। अवढर दानी शिव भी मातेश्वरी अन्नपूर्णा के द्वार पर भिक्षुक हैं, मानों पुरुष प्रकृति के सन्मुख प्रणत है।

...फिर भी लौकिक दृष्टि से जैसे वह माता-पिता की दुहिता थी, वैसे ही उन्हीं की आत्मा की सामाजिक मर्य्यादा भी थी। अतएव, वंशपरम्परा से प्राप्त सनातन संस्कृति बहिन का जीवन और अपनी बालसुलभ भावुकता से अर्जित कला उसके जीवन की अभिव्यक्ति तथा उपजीविका बन गई।

कभी काशी, कभी देहात, बचपन से ही इस आवागमन के कारण बहिन के अन्तःसंस्कारों पर इन दोनों स्थानों का संयुक्त प्रभाव पड़ा। काशी में पुण्यतोया जाह्नवी ने उसकी संस्कृति का सिञ्चन तथा दन्तकथाओं और लोकगीतों से मुखरित चतुर्दिक सुरम्य ग्राम्यप्रकृति ने उसकी कलाभिरुचि का परिपोषण किया। पिता के निर्लिप्त निःस्पृह जीवन ने उसे आत्मोन्मुख कर दिया था, माँ के लालन-पालन ने उसे जीवन से विरक्त नहीं होने दिया। इस प्रकार रागिनी उषा और विरागिनी सन्ध्या अथवा अनुरागिनी यमुना और तापसी गंगा का एकोन्मुख व्यक्तित्व आसक्ति में अनासक्ति और अनासक्ति में आसक्ति होकर उसके जीवन में प्रतिफलित हुआ था। उसकी ब्राह्मी आत्मा (अन्तःस्रोतस्वती सरस्वती) की साधना वैष्णवी थी : सीताराम से उसने प्राणों का निर्लेप, राधाकृष्ण से हृदय का अनुलेप पाया था।

संस्कृति और कला उसके लिए गिरा-अर्थ-सम अभिन्न थी। एक अन्तरङ्ग थी तो दूसरी उसी की तरङ्ग : बहिरङ्ग। एक अनुभूति थी तो दूसरी उसी की विभूति।

उसकी साधना जीवन की अन्तर्बाह्य शुचिता की ओर थी। जो आन्तरिक शुचिता सत्य और शिव से अनुप्राणित थी वही सौन्दर्य्य के संयोग से प्रतिदिन के क्रिया-कलाप में कलानुरञ्जित हो गई।

वह पौराणिक विश्वासों में पली हुई आर्य्यात्मा थी। उसका विश्वास अन्तर्विवेक से सुसन्तुलित था। जीवन में जो कुछ सत्य और शिव है उसकी वह अपनी सहज श्रद्धा से अनुवर्त्तिनी थी, किन्तु जहाँ सौन्दर्य्य कदर्थित होता था वहां सुरुचि की स्थापना के लिए कला ही उसकी सहयोगिनी बन जाती थी।

उसकी मृदु प्रकृति का शुचि सौन्दर्य्य-वोध स्वप्न में भी चिरसजग रहता था। विरूप आकृतियों और कुरूप दृश्यों को देख कर वह विजन

नीड़ की विहग-बालिका की भांति चौंक पड़ती थी। नींद खुलने पर मानों नवजीवन पा जाती थी।

ऐसी सुकोमल प्रकृति के लिए आज का सारा विकृत समाज ही अशोकवाटिका था। इसी अशोकवाटिका का विकराल वातावरण उसके दुःस्वप्नों में घनीभूत हो उठता था।

उसकी सरल, सुन्दर और संक्षिप्त रुचि को छोटे-छोटे डब्बे, छोटे-छोटे गमले, छोटे-छोटे कमरे, छोटे-छोटे बच्चे बहुत रुचते थे। मानों कवि के शब्दों में वह भी अपने अन्तःप्रेरक चैतन्य से कहती हो—

'प्राप्त, तुम लघु लघु गात।'

... ...

छुटपन में जब कभी वह देहात जाती, तब गाँव की अन्य लड़कियों की अपेक्षा उसे सुबोधिनी समझ कर क्रिश्चियन प्रचारिकाएँ सन्ध्या समय उससे कथा-वार्त्ता करने आ जाया करतीं। उन आंग्ल युवतियों के कलित कण्ठ का सङ्गीत-मधुर भजन आज भी मेरी स्मृति में प्रतिध्वनित है।

वे हँसमुख क्रिश्चियन कुमारियाँ घण्टों अपने धर्म का मर्म्म समझाती रहतीं। हँसी-हँसी में ही वे प्रायः हिन्दू रस्म-रिवाजों की निरर्थकता और देवी-देवताओं की मूर्त्ति-पूजा की व्यर्थता सिद्ध करतीं, किन्तु शरद की सुरबाला की तरह ही वह अपनी आस्था में अडिग थी।

उसने धर्म्म को सामाजिक विडम्बनाओं में नहीं, बल्कि पिता की साधना में पाया था। उस साधना के अन्तःस्पर्श से वे क्रिश्चियन कुमारियाँ भी 'किरणमयी' की तरह अभिभूत हो जातीं।

देवी-देवताओं को वह मानती थी, किन्तु उनका रूप-रंग वह अपने कला-बोध से ही निश्चित करती थी। साधारण प्राणियों में भी वह कुरूपता

और कुरुचि सहन नहीं कर सकती थी। शिव को भी वह कदाकार और वीभत्स मानने को तैयार नहीं थी। उसके शिव तो आत्मा से दिगम्बर (निराडम्बर) और आकार से नटराजन थे। गिरिबाला की तरह उसने भी उन्हें पहिचान लिया था।

काले रंग से उसे बेहद चिढ़ थी। उसकी धारणा थी, जो सात्त्विक है उसका वर्ण भी वैसा ही सुदर्शन होना चाहिये। काला रंग उसे तामसिक जान पड़ता था। लोग कहते, काला रंग तो कृष्ण का है। वह कहती, कृष्ण काले नहीं, वे तो घनश्याम हैं, श्यामसुन्दर हैं।

नील, हरित, श्यामल, धवल, गैरिक वर्ण उसे विशेष प्रिय थे। अरुण करुण वर्ण से उसे अत्यधिक अनुराग था। उसकी ब्राह्मी आत्मा को उषा, सन्ध्या एवं गोधूलि के गैरिक वर्ण बहुत रुचते थे।

रंगों से रुचि होते हुए भी उन्हें जीवन के चित्रपट पर अपनी ही अन्तस्तूलिका से सञ्चालित देखना चाहती थी, किसी लौकिक व्यतिरेक से अपना वर्ण-सामञ्जस्य विसङ्गत नहीं होने देती।

उसकी संस्कृति व्रत, पूजा-पाठ, सेवा-सत्कार एवं मन की सम्पूर्ण उदात्त वृत्तियों (करुणा, प्रेम, ममता, दया, दाक्षिण्य, परदुःखकातरता) में प्रस्फुटित हुई थी; उसकी कला शिल्प से लेकर जीवन के दैनिक आचार-विचार में। कला उसका नित्यधर्म्म थी। आचार-विचार यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि छाते की नोक भी धो-पोंछ कर ही घर में रखने देती। कहती, पैरों की तरह यह भी न जाने किस ठाँव-कुठाँव में गड़ी-सनी है!

चमड़े की चीजों से उसे घृणा थी। कहती, न जाने किस जीव का इसमें हनन हुआ है!

देहात से जब कभी काशी आती तो स्टेशन पर सवारी के सुलभ

होते हुए भी पैदल ही चल पड़ती। कहती, क्या जीव के ऊपर बैठ कर तीर्थ में जाऊँ!

नहाने-धोने, पूजा-पाठ के पहिले, सबेरे का उसका अधिकांश समय घर-द्वार स्वच्छ करने में लग जाता था। तनिक-सी भी गन्दगी से उसे घिन थी। घड़ों पानी उँड़ेल कर वह घर-आँगन का कोना-कोना इतना धो डालती मानों अभी-अभी वर्षा अपनी सजल निर्म्मलता से पृथ्वी का कूड़ा-कर्कट साफ कर गई हो। एक हाथ में मार्जनी दूसरे हाथ में सलिल-पात्र लिये हुए वह ऐसी जान पड़ती मानों विश्व का कल्मष धो डालने के लिए कोई वरुण-कन्या पृथ्वी पर चली आई हो।

बाह्य शुद्धि की तरह उसकी अन्तःशुद्धि की भी सीमा नहीं थी। जप-तप, पूजा-पाठ, व्रत, उपवास, पर्व्व-पार्वण, ये सब उसकी अन्तः-शुद्धि के नैमित्तिक साधन थे।

अपनी अन्तर्बाह्य शुचिता द्वारा मन्दिर और देवता की तरह देह और देही को संशुद्ध कर वह अपनी चेतना की वर्त्तिका से जीवन को बाहर-भीतर जगमगा देती थी। मानों कहती थी—देखो, गोलोक यह है; भगवान् का वैकुण्ठ-धाम यह है!

इसी वैकुण्ठ धाम में, इसी गोलोक की परिधि में सुस्थित होकर वह रामायण का पारायण करती। अपने कल-कोमल-कण्ठ से मृदुमन्द मधुर स्वर-लहरी में जिस समय वह रामायण का पाठ करती, ऐसा जान पड़ता, मानों सदेह वीणा ही झंकृत हो रही है।

सोते-जागते अहर्निश उसे भगवान का ध्यान बना रहता। रात में जब-जब उसकी नींद उचट जाती, वह हरिनाम जपने लगती, मानों सुषुप्ति में भी साँस-साँस में रामजप नीरव होकर स्पन्दित रहता था।

... ...

कला उसकी संस्कृति की ही अनुकृति थी। अन्तःशुद्धि में जो संस्कृति थी, ऐहिक शुद्धि में वही कला थी। संस्कृति और कला कृति-प्रतिकृति की तरह संलग्न थी, सम्बद्ध थी। बिना कला के भी संस्कृति का संवहन हो सकता है, किन्तु वह एक विवश-कर्त्तव्य-भार जैसा हो जायगा। ऐसे कर्त्तव्य-पालन में मनोयोग नहीं रहता। संस्कृति में मन का भी योग देने के लिए कला उसे मनोरम बना देती है।

बाल-विधवा होते हुए भी संस्कृति की मनोरमता के लिए वह कला की उपेक्षा नहीं कर सकी। उसका सतीत्त्व किसी व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि उस व्यापक कलात्मक व्यक्तित्व के प्रति था जो निखिल प्रकृति में रम रहा है-'जाके सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई।' उसी की ओर भावोन्मुख होकर राधा ने कहा था-'तोमार मधुर प्रीति बहे शतधार।' प्रकृति की तरह ही कलामयी होकर वह परम पुरुष के प्रति प्रणत थी। उसकी विदेह आत्मा सदेह भी थी, इसीलिए सृष्टि के निखिल रूप-रंग उसके अन्तर्पट पर प्रतिफलित होकर उस विश्वविमोहन भुवन-सुन्दर का मधुर चित्र अङ्कित कर जाते थे।

उस मधुर चित्र के अनुरूप ही उसके संकीर्त्तन में जीवन का उद्बोधन भी मधुर था—

गावो मधुराः, गोपा मधुराः,
यष्टिर्मधुरा, सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरम्, कलितं मधुरम्,
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
हृदयं मधुरम्, गमनं मधुरम्,
वचनं मधुरम्, चरितं मधुरम्।
वलितं मधुरम्, चलितं मधुरम्,
भ्रमितं मधुरम्, दलितं मधुरम्॥

अधरं मधुरम् , वदनं मधुरम् ,
नयनं मधुरम् , वसनं मधुरम् ।
हसितं मधुरम् , कलितं मधुरम् ,
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

उसके कला-मन्दिर के द्वार पर रूप, रंग, गन्ध एवं नाना वर्ण सौन्दर्य-शतदल के लिए निषेध नहीं था। कवि के कण्ठ से कण्ठ मिला कर मानों वह भी प्रभु से कहती थी-"दृश्य, गन्ध गान में जो कुछ भी आनन्द है उनके बीच मुझे तुम्हारा ही आनन्द उपलब्ध होगा। तब मेरा मोह ही मुक्ति-रूप में खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्ति-रूप में सुफल हो जायगा।"

अपने कलामय व्यक्तित्व में वह चित्रलेखा थी, गीतिका थी। ड्राइंग की रंगीन पेन्सिलों से अङ्कित उसके चित्र घर की दीवालों पर सुशोभित होते थे, उसका सङ्गीत सङ्गिनियों के बीच कलरव करता था। विधवा थी, किन्तु ग्रामवधुएँ कोई भी सामाजिक समारोह उसके बिना सफल नहीं मानती थीं।

चित्रपट की तरह उसने अपने जीवन-पट को भी रुचिर बना लिया था। उसका वेशविन्यास किसी अनुरागिनी का था। वह रंगीन वस्त्र और चूड़ियाँ भी पहनती थी, अलङ्करण भी धारण करती थी। इन सभी प्रसाधनों में उसके मन का वही निर्म्मल आनन्द निहित था जो कवि का अपनी कविता में, चित्रकार का अपनी रचना में, अथवा, प्रकृति का अपनी सृष्टि में समाया रहता है।

संसार की ओर से निराभार रह कर उसकी निःसङ्ग आत्मा निराभरण थी, वैधव्य उसे इसी रूप में स्वीकृत था।

लोग कहते–विधवा को शृङ्गार शोभा नहीं देता।

वह कहती–मैं विधवा कहाँ हूँ, मैं तो अपनी माँ की कन्या हूँ।

सचमुच वह कन्या थी—सदानीरा गौरी। उसके जीवन का स्रोत अजस्र था। उसने धरातल की शुष्क सिकता (वास्तविकता) को भी अपने हृदय के सारल्य और तारल्य से स्निग्ध कर दिया था। वह शैलबाला थी।

कन्याकुमारी होकर वह नारी का निखिल व्यक्तित्व बिन्दु में सिन्धु की तरह सँजोये हुए थी : पीड़ितों के लिए वह माँ थी, भाई के लिए बहिन थी, सखियों के लिए सहेली थी, अपने प्रभु के लिए प्रिया थी।

उसका शृङ्गार भवानी का था। मुख पर सूर्य्यमुखी की दीप्ति, मस्तक पर तनिक-सा घूँघट, नेत्रों में अन्तर-जागरूकता, पदों में मर्य्यादित गतिशीलता—कलुष और कुदृष्टि के प्रति अस्पृश्यता। मन्दिरों के सामने से जाते हुए वह मूर्त्तिमती श्रद्धा की तरह अपनी मूक प्रणति देती, राह चलती गौओं को हाथ से छूकर कर स्पर्श को पलकों से लगा लेती। ऐसी थी वह जोगिन बहिन, ऐसी थी वह फकीरिन बहिन !

वह बालाजोगिन जीवन में रस लेती थी। उसके वैधव्य में मर्त्यलोक का उच्छ्वास नहीं, अमृत का उल्लास था। उसकी धारणा थी कि हिंसा और लोभ-रहित होकर जीवन का रसास्वादन किया जा सकता है। वह जीवन के निरामिष रस की रसवन्ती थी। यह रस रसना की लोलुपता से नहीं ग्रहण किया जा सकता। जो निर्जल निराहार व्रत द्वारा रस-शुद्धि कर सकता है उसी के लिए अस्वाद वैसे ही आस्वाद भी बन जाता है जैसे निर्गुण सगुण।

संयोग से वह उस आकाशवृत्ति-निर्भर विप्रकुल में उत्पन्न हुई थी जो अपनी सांस्कृतिक परम्परा से ही अपरिग्रही रहा है। माता-पिता से उसे केवल पुण्यसञ्चय मिला था। उसी पुण्य को मस्तक पर शिरोधार्य्य कर उसने जीवन-यापन के लिए अपने कलानुराग के अनुरूप अध्यवसाय अङ्गीकृत किया। वह शिल्पिनी थी।

बचपन से ही उसने कुछ दस्तकारी सीख ली थी। सीना-पिरोना, कसीदे काढ़ना, रंगीन ऊन के स्वेटर और साड़ियों पर टाँके जाने वाले गोंटे बुनना, ये सब उसके अध्यवसाय थे। चर्खे का पुनरुद्धार उस समय नहीं हो सका था। जीविका के लिए वह मुख्यतः गोंटों की बुनाई करती थी, शेष शिल्प स्वान्तःसुखाय थे। धोती के किनारों से सुन्दर बटुए और पुराने छाते की कमानियों से कपड़े के झालरदार पंखे बना कर वह परिचितों और अतिथियों को भेंट कर देती। निर्धनों के कपड़े मुफ्त सी देती।

अपनी मुख्य जीविका गोंटे की बुनाई में उसे कम श्रम नहीं पड़ता! उसकी चित्ररेखा की तरह दुबली-पतली काया को प्रायः अपनी सामर्थ्य से अधिक अध्यवसाय करना पड़ता। इतने श्रम से जो मजदूरी मिलती वह बहुत साधारण थी। उसमें से भी महाजन खोंट निकाल कर कुछ न कुछ काट ही लेता।

फिर भी अपनी गाढ़ी कमाई की रूखी-सूखी रोटी खाकर, दो घूँट गङ्गाजल पीकर वह अघा जाती। कहती-'देखि पराई चूपड़ी जनि ललिचैहौ जीव।'

सामाजिक असुविधाओं के कारण उसे प्रायः विटप-बालिका की भाँति एक डाल से दूसरी डाल पर, एक घर से दूसरे घर में अपना नीड़ बनाना पड़ता। साधारण किराये पर मामूली सी कोठरी लेकर उसे ही वह अपनी शुचिता और रुचिरता से 'कलिकल्यान-निवास' बना देती।

... ...

अन्तिम दिनों उसने देहात को अपना अधिवास बनाया। वहां कन्याओं और अन्तःपुरवासिनी वधुओं को गृह-शिल्प की ओर प्रेरित करने

लगी। उसे अपने बीच में पाकर वे मानों सनाथ हो गईं, युगों से उनके जीवन का अवरुद्ध स्रोत पुनः गतिशील हो गया। कन्याओं ने उससे अपना अन्तःकरण पाया, बहुओं ने अपना हार्दिक स्वर। सबके सुख-दुख की समभागिनी होकर वह उन्हीं में समा गई।

गाँव में एक कन्या-पाठशाला का न होना उसे अखरने लगा। उसकी बड़ी इच्छा थी कि कन्याएँ और बहुएँ उसी की तरह रामायण पढ़ना और अपने कुशल-समाचार लिखना सीख जायँ।

किसी अन्य सुविधा के अभाव में अपनी ही कुटिया के सामने कन्याओं को एकत्र कर उन्हें वर्णमाला पढ़ाने लगी, सिलाई-पुराई सिखाने लगी। उसकी इस घरेलू पाठशाला में छोटे-छोटे बच्चे भी आने लगे। जमीन पर मिट्टी के घरौंधे बनानेवाले बालक अपनी अविकच उँगलियों से अक्षरों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ खींचने लगे। उन्हें जब इससे सन्तोष नहीं होता तब किसी कन्या की दुधिया दावात और लिखने की पटरी छीन कर कहते–ना गुरु जी, हम तो अब इस पर लिखेंगे। किन्तु पटरी के बजाय वे अपना ही हाथ-मुँह रँग कर रामलीला के पात्र बन जाते।

पढ़ाई से भी अधिक उसका ध्यान स्वच्छता की ओर था। उसकी स्वच्छता पवित्रता के लिए थी। धुले कपड़ों को गृहजल से पुनः धोकर उन्हें पवित्र परिधान बना देती थी।

गरीबी और अशिक्षा में स्वच्छता कहाँ! बच्चों के हाथ-पाँव, नाक-कान, मुँह-दाँत बड़े घिनौने लगते। सारे शरीर पर मक्खियाँ भिनभिनाती रहतीं। उनमें और अछूतों में कोई अन्तर नहीं था।

गुरु ने कहा–जो गन्दा होगा, वह पाठशाला में नहीं आने पायेगा। जो साफ रहेगा वह ठाकुर जी की प्रसादी पायेगा।

दूसरे दिन वह साफ-सुथरे बच्चों को ठाकुर जी की प्रसादी (बताशे) देती। लेकिन ठाकुर जी की प्रसादी रामू को मिले, श्यामू को नहीं, भला यह कैसे हो सकता है। सबके सब 'गुरुजी हमको, गुरुजी हमको' कहते हुए उसे चारों ओर से घेर लेते।

धीरे धीरे जब यह बाल-पाठशाला जमने लगी, तब सोचा गया, इसे स्थायित्व देने के लिए बोर्ड का संरक्षण मिल जाय। बड़ी कोशिश के बाद अन्त में यह भी सम्भव हो सका। सामग्री के नाम पर खाना-पूरी करने के लिए रजिस्टर और गुरु को नाममात्र का मासिक वेतन मिला। एक अवैतनिक मैनेजर भी नियुक्त हुआ, जो अपनी घर-गृहस्थी में तंगी होने पर किसी-किसी महीने जरा-सा वेतन भी डकार जाता।

फिर भी गुरु के उत्साह से पाठशाला चल निकली। तेली, कहाँर, नाई, बारी, माँझी की लड़कियाँ भी साक्षर हो गईं; साक्षर ही नहीं, याद किये गये पदों को गुनगुनाने भी लगीं। निपट निरक्षर गँवई-गाँव की उन कन्याओं का काव्यपाठ सुन कर आश्चर्य्य होता था।

उन कन्याओं ने गुरुजी से उनकी दस्तकारी भी सीख ली थी। वे मानों अपने गुरु की कई गुटिकाएँ बन गई थीं। सयानी होने पर जब वे अपनी-अपनी ससुराल चली गईं तब घर को लिखी चीठी-पाती में गुरुजी को प्रणाम कहतीं और उनका कुशल-क्षेम पूछतीं। कभी ससुराल से घर आने पर अपने नवजात शिशुओं के साथ गुरुजी की कुटिया में ही हिली-मिली रहतीं।

इधर पाठशाला अपनी स्वाभाविक गति से चली जा रही थी, उधर राम के राज्याभिषेक में रङ्ग-भङ्ग की तैयारी भी हो रही थी। अशिक्षा और दरिद्रता ने जिनकी बुद्धि को नख से शिख तक ग्रस लिया था, गाँव की उन वृद्धाओं और प्रौढ़ाओं ने पाठशाला से असहयोग आरम्भ कर

दिया। कहने लगीं—हमारी लड़कियाँ पढ़ कर क्या करेंगी, 'चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ?' उनका ध्यान गुरुजी के नगण्य मासिक वेतन पर था, जिनमें से अधिकांश अपनी शिष्याओं की ही सेवा-पूजा में लग जाता।

लड़कियाँ जब स्वयं ही पाठशाला जाने के लिए हठ करने लगतीं, तब उनकी नानी-दादी उन्हें झिड़क कर कहतीं—चल चल, बर्तन माँजना है, पानी भरना है, गोबर पाथना है, ढोर चराना है।

फिर भी जिन कन्याओं का हृदय नहीं मानता, वे सत्याग्रह करके पाठशाला में आ विराजतीं।

गाँव के बड़े-बूढ़ों की इच्छा थी कि पाठशाला अखण्ड चलती रहे। कहते—गाँव का बड़भाग है जो इस ऊसर में ऐसी गुणवन्ती गुरु के हाथ से सरस्वती मैय्या का छिड़कावा हो जाता है।

किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी पाठशाला की गति मन्द हो गई। गुरु उसकी साख बनाये रखने के लिए एक भी कन्या के रहते अपना उत्साह-भङ्ग नहीं होने देती। लेकिन जिसके संरक्षण में पाठशाला चल रही थी उसे भी संतोष देना आवश्यक था। समाचार मिला, बोर्ड की ओर से गाँवों के शिक्षा-निरीक्षक दौरे पर आ रहे हैं।

गाँव के सयाने लोगों ने कहा—मुआइना के दिन हम लड़कियों और बहुओं से पाठशाला को भर देंगे। तुम पिछड़ी हाजिरी भी पूरी रखना। पूछने पर हम सब गवाही देंगे।

गुरु ने कहा—क्या ठीकरे (रुपये) के लिए झूठ बोलूँ ! ना, यह हमसे नहीं होगा।

लोगों ने बहुत समझाया—इसमें भला झूठ क्या है, यह तो गुन को बनाये रखने के लिए समय-असमय का, गाढ़े पैंड़े का सँकरा रास्ता (संकट धर्म्म) है।

लेकिन यह जुगत उसके जी में नहीं पैठी। हैरान होकर लोगों ने कहा—अच्छा, तुम चुप रहना, कुछ न कहना, हम सब ठीक कर लेंगे।

...मुआइने के दिन उसकी पाठशाला खूब भरी-पूरी थी। एक वयोवृद्ध निरीक्षक मुआइना करने आये। पाठशाला की चहल-पहल देख कर बड़े खुश हुए। आस-पास खड़े लोगों से उन्होंने पूछा—क्या इतनी कन्याएँ रोज पढ़ने आती हैं?

लोगों ने कहा—हाँ साहब, कभी-कभी इससे भी ज्यादा आ जाती हैं।

वृद्ध निरीक्षक ने अपने धुँधले चश्मे के भीतर से अध्यापिका की ओर देखा। पूछा—क्यों जी, ये लोग ठीक कह रहे हैं?

अध्यापिका ने कहा—नहीं साहब, कभी दो, कभी चार, कभी पाँच, कभी एक भी पढ़नेवाली नहीं।

यह सुन कर गाँव के लोग सन्न हो गये। वृद्ध ने बड़ी भर्त्सना से उन लोगों की ओर देखा। बोले—तुम लोग ठीक से पाठशाला क्यों नहीं चलाते जी?

उनका हृदय भीतर ही भीतर इस कन्या-रत्न (अध्यापिका) के लिए वात्सल्य से उमड़ आया। बोले—बेटी, तुम्हारे पगों की धूलि से ही देहात की मिट्टी धन्य है। कोई पढ़े या न पढ़े, तुम्हारी पाठशाला एक ही मूर्त्ति से प्रतिष्ठित मन्दिर की तरह सुशोभित रहेगी।

...वृद्ध निरीक्षक अपने हृदय का बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर चले गये। गाँव वाले आपस में कहने लगे—यह कोई सतवन्ती है, सतयुग की आत्मा भूल से कलयुग में आ गई है।

गाँव के लोग-बाग उसकी सचाई से घबड़ाते थे। सम्मानपूर्वक उसकी राह बचा कर चलते थे। कभी-कभी कोई सयाना तर्क कर बैठता—यदि कसाई गऊ का पीछा करे तो क्या उससे झूठ बोल कर गऊ की जान नहीं बचा लेनी चाहिये?

वह कहती—झूठ बोल कर तुम लोग एक गऊ को बचा लोगे, किन्तु अन्य गउओं को कैसे बचाओगे ? सच्चे दया-धरम का पालन करो तो क़साई का भी हृदय बदल सकोगे।

... ...

सत्य : श्रम : शिल्प :

—यही उसके जीवन के धन थे। यों कहें, धर्म्म ही उसका सबसे बड़ा धन था। भगवान उसके साक्षीविनायक थे।

धर्म्म पर अटल श्रद्धा रखते हुए भी वह धर्म्मभीरु नहीं, धर्म्मप्राण थी। इसी लिए उसमें अन्तस्-तेजस् भी था। प्रकृति में पार्वती की तरह कोमल और पौरुष में रुद्राणी की तरह दुर्द्धर्ष थी। यदि वह शरद की सुरबाला थी, तो वही शिवानी भी थी। उसकी स्वावलम्बिनी और एकाकिनी आत्मा प्रकृति-पुरुष स्वयं हो गई थी। इस द्वित्व व्यक्तित्व में एकमात्र शिवत्व की शुभभावना के कारण वह सर्वमङ्गला थी।

हिन्दू नारी का जीवन, समाज में यों ही पग-पग पर कण्टकित है, फिर श्रद्धालु विधवा तो अरक्षणीया ही है। इस अर्थ-लोलुप युग का अन्तःशून्य समाज उसे वैसे ही जीवन्मृत कर देना चाहता है—'जिमि हिम-उपल कृषीदल गरहीं।'

ऐसे समाज में वह भी 'भगत देखि सुखी भई, जगत देखि रोई।' उसका एकान्त क्रन्दन-वन्दन उन्हीं अन्तर्य्यामी के प्रति था जिनके चरणों में गोमुखी पृथ्वी ने भव-भार-भञ्जन के लिए रुदन किया था।

वह प्रभुचरणों की किङ्करी अपने प्रति निश्छल और अन्तर्य्यामी के प्रति विश्वस्त होकर संसार के प्रति निर्भय हो गई थी। वह अभया थी।

रुद्राणी थी, इसी लिए असत्य, अन्याय, अविचार, अत्याचार के प्रति निर्म्मम थी। चाहे राजकर्म्मचारी हो, आत्मीय परिवारी हो, या कोई

भी, संसारी हो, किसी के सामने उसकी गति कुण्ठित नहीं होती थी। दम्भ के आगे वह दबती नहीं थी। उसके प्रज्ज्वलित नेत्रों को देख कर ही कलि-कुटिल जीव सहम जाते थे।

अपने स्वतंत्र विचारों के कारण उसे पद-पद पर सामाजिक संघर्ष करना पड़ता था। धर्म्म-पथ पर वह अचल थी, किन्तु कर्म्म-पथ पर वह अपने अनुभवों से ही सचल थी।

संसार में जिसे सब लोग छिः छिः कहा करते, कर्म्म-पथ पर उसे भी अपने साथ ले लेती।

मनुष्य को वह उसके अभ्यन्तर में देखती थी। बाह्य परिचय तो कनक-मृग की तरह भ्रामक हो सकता था।

आश्रम-मृगों पर उसकी सहज ममता तो थी ही, किन्तु मरीचिका के पीछे दौड़ने वाले मृगों के लिए भी वह संवेदनशील थी। दोनों ही उसे निरीह जान पड़ते।

सद्-असद् के निर्णय में वही कल्याण-कामना उसकी अन्तर्निर्देशिका थी जो उसे शुभ दिशा में अग्रसर रखती थी। नई शिक्षिताओं की तरह पढ़ने-लिखने का विशेष अवसर न मिलने पर भी वायुमण्डल की सुगन्ध-दुर्गन्ध उसकी भी घ्राण-शक्ति तक पहुँच जाती थी।

आज कल के बुद्धि-प्रसूत शुष्क सामाजिक सुधारों को वह हृदय की भाव-साधना की ओर से विमुखजनों की अवसरवादिता मानती थी। कहती—आधुनिक सुधारकों ने जीवन को केवल ऊपर ही ऊपर स्पर्श किया है, इसी लिए उनके हाथ में काई-कीचड़ ही लगी है। अतल की उस सजल-स्निग्धता का उन्हें परिचय नहीं, जिसके सरस परस से पङ्क पङ्कज बन जाता है।

शरद के 'शेष प्रश्न' की शिवानी की तरह अपने सामाजिक विचारों में स्वतन्त्र होते हुए भी उसकी आत्मा पुण्यश्लोकों से बँधी थी। 'शेष प्रश्न' की शिवानी की आकृति प्राच्य, प्रकृति प्रतीच्य है। किन्तु उसकी आकृति-प्रकृति दोनों ही प्राच्य थी। ऐसा जान पड़ता, मानों अरण्ययुग की अन्तश्चेतना जल, वायु, प्रकाश में शाश्वत संसरण करती हुई इस युग में भी सदेह हो गई थी।

सामयिक समस्याओं को वह शारीरिक आधि-व्याधि के रूप में देखती थी। कहती—चिकित्सा ऐसी होनी चाहिये जो आत्मा पर भी स्वस्थ प्रभाव छोड़ सके।

सामाजिक अधिकारों के लिए उठनेवाले तरह-तरह के आन्दोलन को लक्ष्य कर कहती—समस्याओं के रूप में इनमें बहुत-से कृत्रिम रोग उत्पन्न कर लिये गये हैं। भोग ही जहां प्रधान है वहां मनुष्य पथ्य-कुपथ्य का बिना विचार किये ही अपनी-अपनी रुग्णता की प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है।

हिन्दू समाज में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें वह जानती थी। किन्तु उनके विरुद्ध जो धार्मिक असन्तोष है उसे वह आर्थिक प्रतिक्रिया मानती थी। हरिजनों के उद्धार और स्त्री-पुरुष के समानाधिकार के प्रयत्नों को भी वह इसी दृष्टि से देखती थी।

आत्मोन्नति के लिए सबको एकसमान सुअवसर और सुविधा मिले, वह इसके पक्ष में थी; किन्तु आर्थिक प्रतिक्रिया को धार्म्मिक प्रतिक्रिया बनाना उसे अभीष्ट नहीं था। आर्थिक दृष्टि से वह सवर्ण, असवर्ण, स्त्री, पुरुष, सभी के जीवन को पतित समझती थी; इन सभी का उद्धार चाहती थी।

आर्थिक विषमता को ग्रामोद्योग (कुटीर-शिल्प) द्वारा, आन्तरिक विषमता को मनोयोग (संस्कृति और कला) द्वारा दूर करने में उसका

विश्वास था। इस प्रकार उसके अन्तःकरण और उपकरण में एकीकरण था, दोनों ही सत्वोन्मुख थे।

... ...

हिन्दू-समाज में कोई भी सुधार उसे सनातन धर्म्म के ही अन्तर्गत मान्य था।

सृष्टि में जो कुछ शुभ्र-स्निग्ध-सरस-सुमङ्गल है उसी के समावेश से यह धर्म्म अमृत हो गया है। इस धर्म्म का ध्येय प्रकृति की कल्याणकारिता और रमणीयता से संवलित कर मनुष्य को उस स्व-रूप (आपो ज्योती रसोऽमृतम् ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्) से तद्रूप कर देना है।

उस वैष्णवी के लिए संस्कृति जैसे कला थी, वैसे ही धर्म्म उसके लिए काव्य भी था। जिस धर्म्म में पृथ्वी रसा है, आत्मा रसरूपिणी है, परमात्मा रसोऽमृतम् है, वह तो आमूल काव्य-कलित धर्म्म है। छायावाद की अन्तःस्निग्धता इस धर्म्म में है। सूर, तुलसी, मीरा इसी धर्म्म के भक्तहृदय कवि थे।

इस क्लेद-क्लिन्न शरीर से निःसृत सौन्दर्य्य, प्रेम और विरह का कवित्व यदि ब्रह्मानन्द-सहोदर है तो निर्म्मल आत्मा और उसका अभिभावक धर्म्म तो स्वयं ब्रह्मानन्द ही है।

काव्य के लिए जैसे कुछ विधान हैं, वैसे ही धर्म्म के लिए भी। इन्हें ही शास्त्र कहा जाता है। शास्त्र-पारङ्गत सभी नहीं हो सकते, किन्तु जो भाविक हैं, मार्म्मिक हैं, वे काव्य की तरह धर्म्म का भी रस ग्रहण कर सकते हैं। यों कहें, जो भक्त हैं उन्हीं का हृदय धर्म्म से समरस हो सकता है।

उसकी यही प्रेरणा थी कि हिन्दू-समाज में कोई भी सुधार सनातन धर्म्म से समरस होकर ही करना चाहिये, तभी सुधार सुधा-रस हो जायँगे।

वह मानती थी कि विश्वव्याप्त आर्थिक जड़ता से ग्रस्त होकर सनातन हिन्दू-समाज भी सम्प्रति निःसंज्ञ है। उसकी धर्म्म-प्रसूत सामाजिक परम्पराएँ लोकाचार मात्र रह गई हैं। किन्तु उसके ये कदली-स्तम्भ, ये तोरण-वन्दनवार, ये दूर्वादल, ये मङ्गल-कलश अब भी गृह-गृह के द्वार पर सुशोभित होकर इङ्गित करते हैं कि उसका मूलरस सूख नहीं गया है। वह आज भी सामाजिक जीवन की जननी नारी के अन्तस्तल में अक्षुण्ण है।

हिन्दू समाज में नारी की जो दुर्दशा है, उसकी वह स्वयं भुक्तभोगी थी। देवताओं के नाम में भी जिस नारी का अग्रस्थान है, यथा, गौरीशङ्कर, सीताराम, राधाकृष्ण; उस शिरोमणि नारी का आज पुरुषों के पद-तल में ही स्थान रह गया है। वह पद-शोभा मात्र रह गई है। इस रूप में भी नारी आश्वस्त रह सकती थी, यदि पुरुष के हृदय में कृतज्ञता होती।

वह कहती—पुरुष इस लिए निष्ठुर है कि नारी परमुखापेक्षी है। यदि नारी में स्वावलम्बन आ जाय तो पुरुष को अपने सद्गुणों द्वारा ही उसके योग्य सिद्ध करना होगा।

उसकी सम्मति थी कि नारी को पुरुष से प्रतिस्पर्द्धा करने की आवश्यकता नहीं। प्रतिस्पर्द्धा द्वारा तो वह उसके दुर्गुणों को श्लाघ्य बना देती है। नारी का अपना ही व्यक्तित्व इतना विशद है कि उससे वह आत्मोद्धार ही नहीं, सारे समाज का उद्धार कर सकती है।

घरेलू अत्याचारों को लक्ष्य कर वह कहती—हरित तृणों के लोभ में यदि नारी बलि-पशु न बनना चाहे तो उस पर कौन अत्याचार कर सकता है। नारी यदि अपने को केवल भोगवती भार्या न समझे तो अभिशापों को भी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए वरदान बना सकती है। तब—

'वृद्ध रोग-बस जड़ धनहीना : अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना'

···ऐसा पति भी उसे सेव्य जान पड़ेगा। सेवा, ममता, करुणा में जिस नारी का हृदय विश्व के लिए उन्मुक्त है उसे असमर्थ अयोग्य पति की सेवा भी भार नहीं जान पड़ेगी। कुटुम्ब की इकाई में वह अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों की ही साधना करती है।

नारी अपमान किसी का नहीं करना चाहती, किन्तु अपने व्यक्तित्व को भी कुण्ठित नहीं होने देना चाहती। अयोग्य असमर्थ पति की सेवा वाञ्छनीय होते हुए भी, वह वरण भी ऐसे ही पति का करे, यह कहना उसकी सहृदयता पर अत्याचार होगा।

उसका निर्देश था कि आवश्यकता पड़ने पर कन्याओं को बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह और बहुविवाह के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध करना चाहिये।

उसकी शुभकामना थी कि एक ऐसे विकृत युग में जब कि भोग तामसिक हो गया है, नारी भोग को अस्वीकार कर जीवन का स्वस्थ आदर्श उपस्थित करे। वह बदल जाय तो युग की सारी गति ही बदल जाय, क्योंकि वही सबका केन्द्रविन्दु है।

उसका यही आश्वासन था कि नारी, आदर्श की स्थापना में यदि जीते जी भस्म भी हो गई तो उसकी राख आनेवाले पथिकों से कहेगी—

'जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अङ्ग लगा जा,
ज्योति में ज्योति मिला जा।'

...   .

उसकी ग्राम-पाठशाला आगे और नहीं चल सकी। किन्तु वह निराश नहीं हुई। देहात की मिट्टी में अपने रोपे हुए बीजांकुरों को सींचने के लिए वहीं रहने लगी।

पाठशाला तो नहीं रही, लेकिन उसकी कुटिया 'संगत' बन गई। बहुत आग्रह करने पर उसने यत्किञ्चित् आर्थिक सहयोग लेना स्वीकार किया, सो भी अपने लिए नहीं, अपने दरिद्रनारायणों के लिए। अपना स्वल्प पारिश्रमिक मैं उसी के पास भेजने लगा।

अपनी कुटिया में प्रकृतिस्थ होकर वह गाँव-भर के सुख-दुख की कहानी सुना करती। गृहयुद्ध से लेकर राह-चलते वाग्युद्ध और टोले-टोले में गहरी मारपीट का समाचार भी उसके पास पहुँचता रहता। खेती-पाती में सूखा-पाला, जर-जजमानी में हिस्से-बखरे का आँट-बाँट, अपनी-अपनी मरजादा का तनाव-चढ़ाव, शादी-ब्याह में वाद-विवाद, पञ्चायत का न्याय-अन्याय, यह सब कुछ भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं रहता।

गँवई-गाँव की ये छोटी-मोटी बातें उसके लिए नई नहीं थीं। देहात की मिट्टी में ही उसका बचपन घरौंधे बना कर हँसा खेला था। लेकिन तब वह एक छोटी-सी कुल्या थी, अब वह गाँव के सिरहाने बहने वाली वह सरयू थी जिससे सभी अपने-अपने शोक-सन्ताप को शीतल कर लेना चाहते हैं।

गाँव के लोग लड़-झगड़ कर अपने ही ढंग से उलझ-सुलझ लेते थे, बहुत गाढ़े मौके पर ही उसके पास पहुँचते। उसी समय वह उनकी टेढ़ी-मेढ़ी उलझी-सुलझी समस्याओं को अपने सुझाव से सहज कर देती। ऐसे-ऐसे बरबंड (प्रचण्ड) जिनके भय से आसपास के गाँवों में भी आतङ्क छाया रहता, उसके सामने नतमस्तक हो जाते। गाँववाले कहते, तुम अपने यहाँ इन उजड्डों को क्यों आने देती हो? किन्तु ये कृतान्त की तरह दुर्दान्त प्राणी उसी की सीख से डाका मारना, घर उजाड़ना, बहू-बेटियों को छेड़ना छोड़ चुके थे।

गाँव में जिसकी खेती जितनी कम है, उसके अभाव का गर्त्त उतना ही अधिक गहरा है। उनकी सूखी जमीन को वह सींच सकती थी, किन्तु उनके गड्ढों को तो कोई युगान्तर ही भर सकता है।

जहाँ तक देह के पौरुष का लगाव है, वहाँ तक गाँव वाले एक दूसरे के सहयोगी बन जाते हैं। अँगनू के घर में हारी-बीमारी है तो वह मँगरू से कहेगा—'आज तनी हमरऊ खेतवा माँ ढेकुल चला दीहे, भइया !' कोई विशेष कारण नहीं उपस्थित हुआ तो मंगलराम अंगदराम (अँगनू) का भी 'ढेकुल' चला देगा। इसी सहकारिता से उनका खेत-खलिहान चलता है।

खेती-पाती में, शादी-ब्याह में, रोग-शोक में सब यथाशक्ति शरीर से साथ देने को तैयार रहते हैं, किन्तु कठिन-से-कठिन संकट आ जाने पर भी कोई किसी को अपना एक पैसा नहीं देना चाहता। ऐसे गाढ़े मौके पर निष्ठुर न होते हुए भी, उनकी रङ्कता उन्हें जड़ बना देती है। जिनके पास दो-चार पैसे होते भी हैं वे अगल-बगल के पड़ोसियों को अथवा किसी अन्य गाँव के गरजमन्दों को सूद-दर-सूद के हिसाब से कर्ज देकर जमीदारों और महाजनों की तरह शोषण करने लगते हैं।

सब तरह से निःसहाय और सब तरह से शोषित कृषकों के लिए वह कुटिया ही मोक्षभवन थी।

कोई कहता—मेरा बैल 'डाँगर' हो गया है। नया बैल खरीदना है।

कोई कहता—लगान के बकाया में मेरी खेती बर्बाद हो रही है।

कोई कहता—खेती में कुछ बरकत नहीं है, मजूरी के लिए परदेस जाने को रेलभाड़ा चाहिये।

अपने स्वल्प वित्त के अनुसार वह सबकी कुछ न कुछ सेवा करती। लेकिन इतने से उनका 'पूरा' नहीं पड़ता, दो-चार दिन बाद वे फिर

आ जाते। इस बार वे स्वयं ही शपथ खा खाकर उसे विश्वास दिलाते कि उसका पैसा उसे वापस कर देंगे। लेकिन उनकी शपथ पूरी नहीं होती थी, महीने-पन्द्रह दिन बाद वे फिर आकर उसके चरणों पर गिर पड़ते।

'उनके चले जाने पर वह कहती—आह, ये बेचारे !

... ...

बच्चे अपना घर-द्वार भूल कर उसकी कुटिया में हिले रहते। भजन-पूजन के बाद जब वह भोजन बनाने लगती उस समय एक ओर अपने चौके-चूल्हे को सँभालती, दूसरी ओर उनके कपि-स्वभाव को। बीच-बीच में कहानियाँ सुना कर उनके मन को रमाये रहती। दन्तकथाओं में वह अपनी अन्तरात्मा को अभिव्यक्ति देती।

कहानी के बीच-बीच में बच्चे कभी-कभी टोक भी देते—'ऐसे नहीं, ऐसे......।' वह कथा-प्रवाह में बाधा पाकर स्नेह से झुँझला उठती—'ऐसे नहीं, वैसे कैसे !'

बीच में किसी सयाने के हस्तक्षेप करने पर वह अपनी ही बात पर अड़ जाती। कहती—इन सबों को ठीक से याद नहीं रहता, एक कहानी की बात दूसरी कहानी में मिला-जुला देते हैं।

ये बच्चे ही उसके जीते-जागते ठाकुर जी थे। इन्हें खिला कर ही वह अन्नजल ग्रहण करती। कभी-कभी खेलते-खेलते वे गाँव के कछार या अमराई में ही बिलम रहते। दोपहर का सूर्य्य आसमान में तप जाता, तब भी वे नहीं लौटते। बड़ी देर तक वह उनका बाट जोहती रहती। जब वे नहीं आते तब केले के पत्तों पर हर एक के लिए अलग-अलग भोजन रख कर मुँह में ग्रास डालती। कभी-कभी मुँह में ग्रास डालते ही सबके सब एक साथ ही हवा के झोंके की तरह आ पहुँचते।

अवकाश के समय वह बाल-गोपाल के साथ खेलने भी लगती। खेल-खेल में उनसे रूठ भी जाती। दूसरे ही क्षण उन्हें हृदय से लगा लेती।

वह इतनी भोली थी कि कोई भी उसे बच्चों की तरह रिझा-खिझा सकता था। गलत बात वह हँसी में भी नहीं सुन सकती थी, बच्चों से भी ज्यादा बच्चा, उनसे भी बिगड़ पड़ती।

बड़े-बूढ़े उसे मनाना जानते थे। उसे खिझा देना जितना आसान था, मना लेना भी उतना ही आसान था। बच्चों की ही तरह उसे भी 'राजा बेटा' 'रानी विटिया' कह देने से उसके मुख पर मुस्कान दौड़ जाती थी।

उसके हृदय पर बड़ी से बड़ी चोट लग जाने पर भी पैरों पर सिर रख देने से वह सब कुछ भूल जाती। उसकी बालमति अपनी गुरुता (वत्सलता) में सुस्थिर हो जाती।

कन्याएँ उसे अपनी गुड़ियों के शृङ्गार से लेकर अपने पर्व-त्यौहार के उत्साह में साथ देने के लिए खींच ले जातीं।

बहुएँ अपने मायके को कुशल-क्षेम लिखवाने से लेकर सावन के झूलों और बरसाती नदी में नौकायन के लिए बुला ले जातीं।

अपने साहित्यिक प्रवास में, पारिवारिक पोषण के अभाव में, मेरा भी आग्रह बना रहता कि बचपन में जिसे देवी अन्नपूर्णा के रूप में पहिचाना, वह अपनी ही शारदा-मूर्त्ति की एकाग्र आराधना के लिए मेरे तृषित-कृशित जीवन में पुनः स्वारस्य का सञ्चार कर दे।

जीवन में ऐसे सुअवसर बहुत कम मिले हैं जब हम भाई-बहिन सुदीर्घ समय तक एक साथ रहे हों। बचपन में स्कूल से आते ही जैसे मैं घर से बाहर नदी में तैरता रहता, वैसे ही भव-सागर में भी प्रायः उससे दूर अकेले तैरता रहता। फिर भी मेरा जीवन-तट वही थी। कभी मैं ही तैरते-तैरते तट पर आ जाता, कभी वही अन्तरीप की तरह पास आ जाती।

···'कमला' के सम्पादन-काल में जब मैं काशी आया तो उसे प्रसन्नता हुई कि पुनः काशी-वास मिलेगा। जिस काशी के कंकर-कंकर में शङ्कर का निवास है, उसी काशी के कण-कण में उसके जीवन की बहुत-सी स्मृतियाँ भी सजीव हैं। पिता जी का यहीं तपोवन था, माता का यहीं निधन हुआ था। उसके जी की यही साध थी कि जिस दाहभूमि में माँ का अग्नि-संस्कार हुआ उसी पुण्यभूमि में उसके शरीर के रज-कण भी मिल जायँ।

···इस बार देहात में उसका शरीर ठीक नहीं था। इच्छा होते हुए भी वह शीघ्र काशी नहीं आ सकी। मन के अदम्य उत्साह से जब वह काशी आई तो आते ही ज्वर-ग्रस्त हो गई। विश्राम-हीन परिश्रान्त जीवन में कई बार मरणासन्न होकर वह अपनी ही गृह-चिकित्सा से पुनर्जीवित हो गई थी। इस बार भी उसे आशा थी कि सदा की तरह वह अपनी साधारण परिचर्य्या से ही स्वस्थ हो जायगी।

किन्तु मनोनुकूल वातावरण और सहयोग न मिल पाने के कारण उसका स्वास्थ्य सँभल नहीं सका।

···जीवन भर जो सबका दुःख ओढ़ती रही, उसका दुःख कोई नहीं ओढ़ सका। इतना बड़ा संसार उसके लिए चारों ओर शून्य था। किसी को भला क्या दोष दूँ, जब कि 'अपना ही मन रह सका न निज विश्वासी।' कितना नराधम हूँ—'मो सम कौन कुटिल खल-कामी ?'

जिस दिन वह ज्वर-ग्रस्त हुई उसी दिन गाँव को उसने पत्र में लिखा था—"यहाँ आने पर भी शरीर सुखी नहीं हुआ। अपने मन सोच लिया कि जब सीता जी को मुसीबत पड़ी तो हम तो···हम तो एक गँवार आदमी हैं, कब कै घड़ी सुखी रह सकती हूँ।···दुलहिन लोगों को आशीर्वाद, सब बच्चों को आशीर्वाद। सबकी खैरियत लिखना।"

मन की उद्विग्नता में वह पत्र मेरे पास ही पड़ा रह गया। पत्रोत्तर की प्रतीक्षा के लिए समय भी नहीं था, एक-एक पल पहाड़ होता जा रहा था।

···पथ्य, पोषण और परिचर्य्या के अभाव में जब उसका शरीर और मस्तिष्क बिलकुल दुर्बल हो गया तब उसकी अनिच्छा होते हुए भी विवश होकर अस्पताल ले जाना पड़ा। हाय रे मूढ़! जिसकी शुचि-अशुचि, रुचि-विरुचि अस्वस्थता में भी इतनी जाग्रत थी कि अपने स्वास्थ्य के लिए बकरी का दूध भी नहीं लेना चाहती थी, वह भला अस्पताल के आंग्ल उपचारों को कैसे अङ्गीकार कर सकती थी!

ओह, उसका वह चिरकोमल निःशक्त शरीर! अस्पताल ले जाते समय उसकी आँखों का वह करुण भोलापन!! उसके निर्वाक् निष्पलक निस्तब्ध नेत्रों की दो निरीह पुतलियाँ विस्मय से एकटक होकर पूछती थीं—मैं कहाँ जा रही हूँ, तुम लोग मुझे कहाँ लिये जा रहे हो!

किसी प्रताड़ित शिशु-जैसी उसकी मुखमुद्रा चुप, शान्त और विवश थी।

अस्पताल में पहुँचा कर बाहर निकलते ही मैं बिलख पड़ा—आह, उसे मृत्यु के उपनगर में दे दिया!

गाढ़े दिनों में, मरण की तरह जीवन भी उसके लिए कितना अकेला पड़ गया!

···उसी दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर अस्पताल में उसका जीवन-प्रदीप उस दुर्ग-दीप की भाँति बुझ गया जो युगों से स्वतः प्रकाश फैलाता चला आ रहा था।

शुक्रवार के दिन वह ब्राह्ममुहूर्त्त में देहात से चली थी, अगले शुक्रवार को ब्राह्ममुहूर्त्त में ही इस धराधाम से चली गई! नेत्र न जाने किस प्रत्याशा से खुले रह गये!

एक दिन के सिञ्चन से ही प्रभात की तरह खिल पड़ने वाला, एक दिन के ही तपन से सन्ध्या की तरह कुम्हला जाने वाला, मेरा शोषित जीवन इतने दिनों तक मानसिक मूर्च्छा से आत्मविस्मृत हो गया था। अपने स्नेह-सिञ्चन से जीवन को सदा हरा-भरा रखने वाली उस वनदेवी के इस तिरोधान में भी मैं मूर्च्छित था। मेरा अवचेतन मन विगलित कण्ठ से इतना ही कह सका—बहिन, बहिन, अब तुम जा रही हो!!

···मन ही मन उसके अन्तःकरण को आहूत कर, वातावरण को अभिमन्त्रित कर पलकों से, मस्तक से, हृदय से उसके पदतलों को लगा लिया।

···देहात से आते समय वह ग्राम्यस्मृति से विह्वल हो गई थी। राह में बोली, बहुएँ सब दीदी-दीदी कह कर रोने लगीं—कहाँ जाती हो दीदी! मत जाओ दीदी!!

सभी की तो वह दीदी थी। बच्चे आज भी उससे सुनी हुई कहानियों में उसे याद करते हैं। अधूरी कहानियों को पूरा करने के लिए उसका आह्वान करते हैं—आ जाओ दीदी! लौट आओ दीदी!!

काशी

१४-७-४६

अभिशापों की परिक्रमा

'खो गई स्वर्ग की स्वर्णकिरण
छू जग जीवन का अन्धकार
मानस के सूने-से तम को
दिशि-पल के स्वप्नों में सँवार !'

... ...

उसके अभाव में चिरपरिचित विश्व अपरिचित-सा जान पड़ने लगा था। मन 'न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा' हो गया था। संसार ज्यों का त्यों था, किन्तु इसमें मेरा केवल शरीर ही था, चेतना लोकान्तरित हो गई थी। चेतना उसी अतीन्द्रिय ज्योति का अनुसरण करती हुई सूक्ष्म में विलीन हो गई थी जो अभी कल तक अपनी देह के दीपक में भी जगमगा रही थी।

...धीरे-धीरे जब चेतना आकाशचारिणी विहंगिनी की तरह अपने विश्व-नीड़ में लौट आई तब प्रतिभासित हुआ कि मूलज्योति तो चली गई किन्तु वह अपनी लौ इस दीपक में भी लगा गई है।

एक बार सोचा, इस तामसिक संसार के प्रति चिरनिर्म्मम हो जाऊँ जो उस दिवङ्गत आभा को धारण नहीं कर सका। किन्तु निर्म्ममता उसके स्वभाव के लिए सम्भव नहीं, जिसका जीवन किसी के स्वर्गीय स्नेह से तरल है।

जाते-जाते वह इस एकाकी शून्यजीवन को किसी सुषम युग के स्वप्नों का उत्तरदायित्व सौंप गई है। अदृश्य होकर भी अपनी स्मृतियों से, स्वप्नों से शून्य को सगुण और एकाकी को विश्वप्राणी बना गई है।

...बहुत पहिले मेरे किशोर-मुख की ओर ध्यान से देख कर एक समवयस्क साथी अचानक बोल उठा था—अरे, इसका मुख तो विधवा-जैसा है !

मैंने कहा—वहिन विधवा सन्ध्या थी !

उषा में भी जो पूर्वसन्ध्या ही थी, वही मेरे जीवन के प्रभात में भी शिशु-मुख पर सन्ध्या का सूनापन चिह्नित कर गई। विसर्जन ही जिसका जीवन था वही इस सूनेपन में निःस्व समर्पण का सङ्केत दे गई।

... ...

मेरा जीवन बचपन से ही निःसङ्ग रहा है। सबके बीच में भी एकाकी रहा हूँ। जन्म से ही अल्पश्रुत होने के कारण बहिर्जगत से वञ्चित हूँ।

आज भी मनःस्थिति उस असमर्थ शिशु की-सी है जो न तो अपने को व्यक्त कर पाता है, न विश्व की अभिव्यक्ति ग्रहण कर पाता है। वह न सुन सकता है, न गुन सकता है। स्वयं भी जो कुछ कहना चाहता है, भाषा उसका साथ नहीं दे पाती।

दृष्टि-पथ के द्वारा उसका सम्बन्ध केवल दृश्यजगत से रह गया है। उसी को देख-देख कर उसके भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग हिलते-डुलते हैं। अन्तर्निहित मूकस्पन्दनों की तरह मौन भावभङ्गियों में ही उसके लिए वाणी सुगम है।

मेरा अन्तःश्रवण वधिर नहीं है। उसे वाणी का सरगम, जीवन का स्वर-सन्तुलन, हृदय का अभिसरण चाहिये। श्रुति की साधना पाने के लिए ही मेरा वधिरपन है।

जिसके मृदुल कण्ठ से बोलना सीखा, जिसकी सुकुमार उँगुलियाँ पकड़ कर चलना सीखा, वह भी अपने ही अन्तर्जगत की ओर उन्मुख कर गई। माँ के प्राणों से उसके प्राण, उसके प्राणों से मेरे नवप्राण स्पन्दित होकर

नारी के उस अन्तःकरण में ही संसरण करते रहे जहाँ जीव अपने जन्म के आदि में था।

घर से बाहर मेरा परिचय केवल उस विशाल वटवृक्ष से ही हो सका था जिसका छाया-जगत मेरा क्रीड़ास्थल था। पर्य्यटन करते हुए जब कभी पिता जी वहाँ आ पहुँचते तब बरबस अपने उस तपोवन में उठा ले जाते जहाँ वे भगवान का एकान्त ध्यान करते।

वहाँ कुछ देर उन्हीं के चारों ओर खेलता रहता। कभी उनके प्रलम्ब बाहुओं से झूल जाता, कभी उनकी पीठ पर लोटने लगता।

मुझे सुस्थिर करने के लिए पद्मासीन होकर वे कहते—बेटा, इस तरह पालथी मार कर बैठो।

उन्हीं की तरह पद्मासीन हो जाने पर वे पलक मूँद कर आदेश देते—सीताराम सीताराम कहो।

उनका प्रसाद पाने के लिए मैं भी उनके कण्ठ से कण्ठ मिला कर सीताराम सीताराम जपने लगता।

जब वे ध्यानमग्न हो जाते तब धीरे से उठ कर घर चला आता।

दूसरे दिन वे फिर पकड़ ले जाते। कहते—कल तू कब भाग आया रे!

उस एकान्त में तरुवासी विहग ही उनके साथी थे। पृथ्वी से उड़ कर चहचहाते हुए जब कोई पक्षी अन्तरिक्ष की ओर चल पड़ता, तब वे भी उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ते। कहते—देखो देखो, यह क्या कह रहा है!

लोग उन्हें विक्षिप्त समझते, किन्तु अपने उस विक्षिप्त दुर्बली महाराज के भोलेपन पर सभी निछावर थे।

माताएँ उनसे बच्चों के लिए आशीर्वाद चाहतीं, बहुएँ अपने आँचल से उनका चरण-स्पर्श करतीं, गृह-पुरुष उन्हें श्रद्धा से पादार्घ देते।

स्वयं वे एक विशेष प्रकार की वनस्पति खाकर रहते। धनिकों से मिले उपहार सत्संगियों में बाँट देते। पैसों को दीमक की मिट्टी में डाल देते।

बोलते कम, अपना अभिप्राय प्रायः मौन सङ्केतों से व्यक्त करते।

गङ्गाजी में घण्टों पूर्वाभिमुख खड़े होकर ईशस्तवन करते रहते। वहीं एक बार जब किसी बहुत बड़े धनिक ने अनुनय-विनय कर अपनी भी सेवा लेने के लिए अति आग्रह किया, तब वे बोले—मुझे कुछ नहीं चाहिये बाबा, मुझे अपना सन्ध्या-वन्दन करने दो।

... ...

घर से बाहर निकलते-निकलते मैं बालसखाओं के खेल में भी शामिल होने लगा। घर के सामने ही एक बहुत बड़ा बगीचा था। शाम को उसी के मैदान में बालकों का झुण्ड पतंग उड़ाता। सबके पतंग की डोर माँझे से मजबूत थी, मेरे पतंग की डोर बिलकुल सादी थी।

मैं सबसे अलग निराले में अपना पतंग उड़ाता। फिर भी कोई शहजोर साथी अपना चढ़ा पतंग लिये हुए मेरी ओर आ ही पहुँचता। मैं कहता—हे हे, मेरा धागा कमजोर है, मेरा पतंग मत काटो।

बहुत बचाने पर भी जब अचानक किसी का पतंग मेरे ही पतंग से कट जाता तब वह अपनी झेंप मिटाने के लिए मुझी पर पिल पड़ता।

इस तरह के साथियों में सबसे बुद्धू मैं ही था। बुद्धिमान तो आज भी नहीं हो सका हूँ, एक बालक भी मुझे अपनी अपेक्षा सयाना जान पड़ता है। लोक-पथ पर मेरे पैर आज भी सध नहीं सके हैं। 'पथेर दावी' (पथ के दावेदार) के शशि कवि की-सी मेरी सांसारिक स्थिति है।

पिताजी के पोथी-पत्रों को उलटते-पुलटते एकाएक बहिन को ध्यान आया कि···यह भी उन्हीं की तरह सुविद्य हो जाय। उसने मेरे हाथों में वर्णमाला की पाटी थमा दी।

पिताजी के वनवास और माँ के गोलोकवास के कारण जब वह सामाजिक जीवन में अकेली पड़ गई तब शिक्षा-दीक्षा और पारिवारिक देख-रेख के लिए मुझे देहात भेज दिया।

देहात निर्धन था, निर्धनता जड़ता-ग्रस्त थी। किन्तु प्रकृति के मुक्त हृदय और पृथ्वी की सहज मिट्टी ने मुझे अपने में रमा लिया।

प्रकृति के प्रकृतरूप ग्रामीण बालसखाओं के साथ कछारों और अमराइयों में घूमना, पेड़ों की डाल-डाल पर फुदकना, सरिता की लहर-लहर पर तैरना, आमों की रखवाली करना, ब्राह्ममुहूर्त्त से पहिले ही उठ कर रसालों की ताजी टपक सुनना; ये बच्चों की कविताओं-जैसी उस समय की मेरी भोली-भाली भावुकताएँ हैं।

उन दिनों पढ़ने के लिए मदरसे में भेजना गोवत्स को काँजी-हाउस में भेजने जैसा ही था। वहाँ भी आमों की बगिया और गाँव के सिरहाने बहती नदिया का ही ध्यान मेरे मन को खींचता रहता। मदरसे से छुट्टी पाते ही मानों मुक्त सच्चिदानन्द-लोक में आ जाता।

भवसागर को भाव-सागर बना कर मैं तैर रहा था।

···देहात में मेरी लिखाई-पढ़ाई कैसी चल रही है, यह जानने के लिए बहिन ने फिर काशी में बुला लिया। यहीं मुझे विधिपूर्वक साक्षरता मिली।

···पहिले के छूटे हुए साथी भी मिले। उनके साथ नये-नये खेल चले।

हम सभी बालकों का प्रिय मनोरञ्जन गङ्गा की गोद में सन्तरण था। प्राइमरी स्कूल से दोपहर में छुट्टी पाते ही अपना बस्ता झटपट घर में फेंक कर गङ्गा-तट की ओर चल देता।

गङ्गातटवर्त्ती परिवारों का प्रत्येक बालक माँझियों के सम्पर्क में मत्स्यशिशु की तरह जन्म से ही तैराक होता है। कन्याएँ भी तैरना सीख जाती हैं।

मन्दिरों और अट्टालिकाओं से सुशोभित, नावों और बजड़ों से सुस्पन्दित, तरंगों से कल्लोलित घाटों को देख कर काशीपुरी गङ्गापुरी ही जान पड़ती है।

खाने-पीने की सुध-बुध भूल कर बालवृन्द पहरों गङ्गा में ही खेलता रहता। जल ही मानों हमारा जीवन हो गया था।

खेल-खेल में मार-पीट हो जाने पर स्थल-युद्ध की अपेक्षा जल-युद्ध अधिक सुविधाजनक जान पड़ता था। एक डुबकी लगाई, फिर पता नहीं, भीतर ही भीतर कौन किधर सटक गया!

तैरते-तैरते कभी मछली की तरह कोई बालक पैरों के नीचे आ जाता, कभी मगर बन कर कोई भीतर खींच ले जाता।

गङ्गा के चौड़े पाट को आर-पार कर देना हमारे लिए साधारण बात थी। हमारा आनन्द उस समय असाधारण हो उठता जब बरसात में गङ्गा, गङ्गासागर का रूप धारण कर लेती। गर्मियों में जिन ऊँचे-ऊँचे बुर्जों और अट्टालिकाओं के उत्तुङ्ग प्राचीरस्तम्भों को देख कर नीचे गङ्गातट पर हम बालक किसी पाताल-लोक के जीव जान पड़ते, बरसात में उन्हीं की ऊँचाई पर चढ़ कर दल के दल इस तरह कूदते मानों आकाश-गङ्गा के तारे टूट रहे हों।

बड़ी देर के बाद जब हम जल से बाहर निकलते तब हमारी आँखें अरुण कमल की पङ्खड़ियों की तरह लाल-लाल दीखतीं।

...मेलों के दिन तो हमारा उत्साह मानों नया जन्म पा जाता। दुर्गा जी, सङ्कटमोचन, जगन्नाथ जी, लोलार्क कुण्ड के मेले अब भी मन

को आकर्षित करते हैं। अब वह अबोध आनन्द तो नहीं आता, किन्तु उन्हीं दिनों की स्मृति में मन अपने पहिचाने रास्तों पर चला जाता है। काशी के ये मेले अपने धार्म्मिक स्थानों और आख्यानों से जुड़े हुए हैं। इन मेलों से हमारा मनोरञ्जन ही नहीं बल्कि हमारी अज्ञात चेतना में सनातन परम्परा का सञ्चार भी होता जाता था।

बड़ों की बात तो बड़े ही जानें। हमें तो मेलों के दिन अच्छे कपड़े पहिनने की खुशी होती, खिलौने और पिपिहरी पाने की खुशी होती, रेवड़ी और चिवड़ा खाने की खुशी होती। दुर्गा जी के मेले में अखाड़े का दंगल और वाग्मियों का शास्त्रार्थ भी अच्छा लगता। आँखों की राह हम जितना कौतुक बटोर सकते वह सब अच्छा ही अच्छा लगता।

दूसरे दिन सबेरे कपड़े तो सन्दूक में बन्द हो जाते, खिलौने टूट-फूट जाते, केवल ताड़पत्र की बनी पिपिहरी अतीत की सङ्गिनी बन कर साथ-साथ घूमती रहती। उसे ही बजा-बजा कर हम अपने को प्रतिध्वनित करने का सुख पाते।

···रामलीला और कृष्णलीला हमारे मन में कविता, कहानी और रूपक का रसोद्रेक कर जाती। धार्म्मिक आख्यानों का सजीव दृश्यपाठ दे जाती।

विजयादशमी, दीवाली और होली के त्यौहार हमारे जीवन में आनन्द के नये-नये अध्याय जोड़ जाते।

असंख्य दीपकों में जगमगाती दीवाली मुझे आज भी ऐसी जान पड़ती है, मानों वह अपने दीपकों में बच्चों की ही हँसी-खुशी सँजोये हुए है। यह हमारे स्वप्नों को आश्वासन दे जाती है।

ये दीपक आकाश के नक्षत्रों के लिए हम बच्चों के मौन निमन्त्रण हैं, मानों कहते हैं—देखो, हम भी तुम्हारी ही तरह हँसते खेलते हैं, फिर तुम हमसे दूर-दूर क्यों हो!

कार्त्तिक में गङ्गा-तट के आकाश-दीप आज भी हमें न जाने किस रहस्य-लोक में उठा ले जाते हैं, जहाँ न देश है, न दिशा है, न समय की सीमा है; केवल एक निःशरीर ज्योति समीर में साँस लेती हुई महानिलय की ओर बढ़ती चली जा रही है!

उस प्रवास-पथ में जुगनू की तरह अपनी भी लघु उपस्थिति दे देने के लिए ज्योति-सरणि जाह्नवी के जल-प्रवाह में मैं भी दीप विसर्जित कर देता हूँ।

... ...

त्यौहारों और पर्व्वों के अतिरिक्त जीवन का दैनिक समागम भी हमें सुखमय और सुहावना जान पड़ता।

फेरीवाले अपनी लुभावनी टेर से हमारा ध्यान आकर्षित कर जाते, उनके अतिरिक्त हम बच्चों के राज-समाज में तरह-तरह के अद्भुत लोग भी आ जाते—बन्दर और भालू नचानेवाले मदारी, तूँबी बजानेवाले सँपेरे, जादू दिखानेवाले बाजीगर, बाँस के खम्भों से बँधी रस्सी पर थिरकनेवाले नटनागर, अपनी झाँपी (ऊँचे पाये की पिटारी) में रंगीन चलचित्रों की झाँकी दिखानेवाले चित्रधर।

आज भी जब कभी वे चित्रधर दिखाई पड़ते हैं तो मैं पुकार उठता हूँ—ए जी ए, सुनो, सुनो, हम तुम्हारी तसबीर देखेंगे।

उसके चित्रों को देखते समय आँखों में फिर वही बाल्यदृष्टि लौट आती है।

हमारे बीच में घूम-घूम कर हींग बेंचनेवाला वह ढीले-ढाले पहनावे का आगा भी कभी-कभी आ जाता। उसे देख कर हम चिढ़ाने लगते—'देखो देखो आया आगा, मुर्गी लेकर भागा।' किन्तु जब वह पीछे मुड़ता, तब हमें ही भागना पड़ता। समतल में बहनेवाली नदी

में वह अपने आवेश से एक आवर्त्त उत्पन्न कर हमारे जीवन को और भी गतिशील कर जाता।

मुहल्ले की राह जब कोई जती अपने हाथों में, कमर में बँधे घुँघुरुओं को झन-झन्न झन-झन्न करता निकल पड़ता तब हम सब भभूत लेने के लिए उसके पीछे दौड़ पड़ते। सबके मस्तक पर भभूत लगा कर, लाई-मिश्री की प्रसादी देकर वह फिर अपने घुँघुरुओं को झनकारता आगे बढ़ जाता।

कभी कभी घर के द्वार पर अपनी सारंगी बजाते हुए जोगी आकर जीवन के उदास क्षणों में मुरझाये हृदय को सींच जाता। उसके वृद्धकण्ठ के गान को उसकी सारंगी मानों उसी की कलावती कन्या होकर अपने करुण मधुर स्वर में दुहरा देती। ऐसा जान पड़ता, युग-युगों से चला आता अरण्य-युग का तापस मानव अपने पथ की सुख-दुखभरी कहानी प्रकृति के सुर में सुना रहा है। उस सुर की याद आ जाने पर आज भी मन न जाने कैसी उदासी से रोने-रोने हो जाता है।

उस चिरपुराण पथिक को पाथेय देने के लिए घर से बाहर निकल कर मैं कहता—जोगी बाबा, मुझे भी अपने साथ ले चलो न।

···आह, जीवन-पथ के वे सब पथिक अब कहाँ चले गये! उनके साथ-साथ 'इन्द्रचाप-सा वह बचपन के मृदुल अनुभवों का समुदय' भी कहाँ खो गया?—

'हा, मेरे बचपन-से कितने
बिखर गये जग के शृङ्गार
जिनकी अविकच-दुर्बलता ही
थी जग की शोभालङ्कार!'

... ...

गाँव के किसी सामाजिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बहिन जब मुझे अपने साथ फिर देहात ले गई तब वर्षों के लिए मैं काशी से बिछुड़ गया। चलते समय मेरे लिए रंगीन चित्रों से सुसज्जित बालसाहित्य भी लेती गई। रंगों के प्रति मेरा अनुराग इन्हीं सचित्र बालपोथियों के कारण है। उस अबोध वय में ही मुझमें भी वही वर्णसंस्कार उत्पन्न हो गया जो बहिन में था। मेरे अनजाने ही रूप, रंग, आकार-प्रकार की मेरी भी रुचि-विरुचि वैसी ही बन गई जैसी बहिन की थी।

गाँव में जम जाने पर एक दिन मैंने कहा—मुझे स्लेट-पेन्सिल भी मँगा दो।

उसने समझा—यह यहाँ मन लगा कर पढ़ेगा, शहर के गर्द-गुबार से बचा रहेगा।

मुझे देहात में ही छोड़ कर वह काशी चली आई।

लेकिन पढ़ना-लिखना कुछ नहीं हो सका। इस बार मेरा मन खेती-पाती में लग गया। घास छीलना, पत्तियाँ बटोरना, कुएँ से भर-भर कर पानी लाना, ईख ढोना, कोल्हू चलाना, मचान पर बैठ कर फसल की रखवाली करना, खलिहानों को अगोरते रहना, यही मेरा नित्यकृत्य था।

खेतों का दिगन्त-व्याप्त विस्तार हम बालकों के वन-विहार का प्रशस्त प्राङ्गण था। वन-भोजन का विशेष आयोजन नहीं करना पड़ता; खेतों के साग-पात में ही हमारे लिए सकल-रस-व्यञ्जन था।

जाड़ों में खेतों की शोभा अठखेलियाँ करने लगती। मृदु मन्द समीर के स्पर्श से पौधे न जाने किस विश्व-उल्लास का आभास पाकर आनन्द से थिरक उठते।

यह देखो, ये मटर के रंग-बिरंगे फूल हैं; ऐसा जान पड़ता है मानों बच्चों की तरह बन-ठन कर किसी मेले में जाने को उत्सुक हैं।

और वह कौन है ?—अलसी के नीले फूलों में सकुचाई हुई कोई श्यामली कन्या। उसी की बगल में उसका छोटा बलबीर भाई चने का पौधा। कहता है—बहिन, डर की क्या बात है, मैं तो तुम्हारे साथ हूँ।

और यह है पीले-पीले फूलों वाली सरसों, मानों विवाह-मण्डप में जाने की तैयारी कर रही है।

···हमारे इस वन-विहार में, खेतों में, खलिहानों में, कछारों में, अमराइयों में, ग्राम्यकन्याएँ भी हमारी सङ्गिनी थीं। वे ऐसी निडर थीं कि उन पर शासन करने की अपेक्षा उन्हीं का अनुशासन मानना पड़ता। सयानी वधू हो जाने पर उन्हीं में से किसी को एक बार देख कर मेरा उत्सुक हृदय बोल उठा था—

कहो न कम्पित हुआ तनिक क्या
बचपन का वह निर्भय मन ?

फूलो-फलो सदा ही सङ्गिनि !
प्रियतम के प्राणों में झूल;
पर, बचपन की स्मृतियों को तुम
आली ! कभी न जाना भूल।

... ...

भविष्य को भूल कर मैं उस ग्राम्यजीवन में ऐसा निमग्न हो गया था कि जान पड़ता, बस यहीं पर मेरा आदि-अन्त है। बहिन को जब समाचार मिला कि लिखना-पढ़ना छूट गया है, तब गाँव से दूर दूसरे गाँव में उसने छोटी बहिन के पति को पत्र लिखा कि वे मुझे अपने यहाँ लाकर अपनी देख-रेख में लिखावें-पढ़ावें।···

···हम कई भाई-बहिन थे। सबसे बड़ी बहिन काशीवासिनी थी, सबसे बड़ा भाई मैं बिना किसी कूल-किनारे के हिलकोरें ले रहा था। हम दोनों के बीच में मँझली बहिन ग्राम्यगृहिणी बन गई थी। बड़ी बहिन के बाल्यसत्संग से वह भी साक्षर थी। मुझसे छोटे दो भाई, दो बहिनें थीं। इन सबका नामकरण बड़ी बहिन ने अपने स्नेह के अनुरूप ही किया था—एक का नाम था रुच्चन, दूसरे का नाम था हीरामन; छोटी बहिनों में एक थी कलावती, दूसरी थी मुन्नी। ये सभी अपने दुधमुँहे दिनों में ही चल बसे।

इन छोटे भाई-बहिनों में रुच्चन मुझे भी रुचिर लगता था। शेष की तो स्मृति इतनी क्षीण है कि वे आकाशपट पर जुगजुगाते तारों की तरह ही कहीं बहुत दूर झिलमिल-से हैं।···रुच्चन सबका प्यारा ध्रुवतारा था। मैं उसे अपने असमर्थ हाथों से उठा कर लोगों को दिखाता फिरता—अरे देखो देखो, मेरे भैया को······।

जिस दिन वह सफेद कपड़े में लपेट कर, डोरी से बाँध कर, गङ्गाजल में प्रवाहित कर दिया गया, उस दिन भी मैं नहीं समझ सका कि वह सदा के लिए चला गया। दोपहर के सुनसान में गङ्गा-तट पर बैठ कर मैं उदास-मुख से उसी दिशा की ओर एकटक देखता रहता जिधर वह बह गया था।

सूनी आँखों से जब घर लौटता तब बिलख कर माँ से पूछता—मा, भैया कब आयेगा?

हाय रे नादान!

··· ··· ···

घर में सबसे सादा नाम मेरा था—मुच्छन: श्मश्रु-विहीन शिशु। नन्दनन्दन ने कहा था—'मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी?' मेरी चोटी भले ही बढ़ जाय, लेकिन, श्मश्रु-मण्डित मैं आज भी नहीं होना चाहता।

...इच्छा न होते हुए भी मुच्छन को शिक्षा-दीक्षा के लिए मँझली बहिन के यहाँ जाना ही पड़ा।

चरप िचित गाँव को छोड़ कर एक सर्वथा अपरिचित गाँव में जाते हुए मेरा मन उदास हो गया। मँझली बहिन बचपन में इतने कम दिनों साथ रही कि वह भी उसी नये गाँव की तरह अपरिचित-सी हो गई थी।

एक दिन जब उसी अपरिचिता बहिन के द्वार पर जा खड़ा हुआ तब मेरा उस समय का राजवेश दर्शनीय ही था। बड़ी बहिन के स्नेह का सूचक बहुत पहिले उसी के हाथों का सिला हुआ लम्बा सूती कोट, उसके नीचे गाँव की दरिद्रता का ज्ञापक मैला-कुचैला कौपीन, सरहरी-जैसे दुबले-पतले हाथ में बाँस की डंडी, इस राजवेश (!) में अपने अनोखे अतिथि को पाकर मँझली बहिन भी सहसा पहिचान नहीं सकी। अपने उस दिन का आभास मुझे आज भी शरद की 'मँझली दीदी' के 'किसन' में मिल जाता है।

ससुराल में लड़कियों को अपने मायके का ही स्वाभिमान होता है। लेकिन मेरे ही द्वारा स्पष्ट हो गया कि यह स्वाभिमान उसके सौभाग्य में नहीं। फिर भी उसने अपने स्नेह-सँवार से मुझे ही अपना राजकुँवर बना लिया।

मातृकुल से बिछुड़े हुए उसके हृदय की सम्पूर्ण माया-ममता पाकर भी मैं वहाँ बहुत दिनों तक अनमना ही रहा। छूटे हुए गाँव की स्मृति में आँखें भर भर आतीं। किस सुख की सुध में ?—

जीवन में सामाजिक सुख मुझे कभी मिला नहीं। जिस बड़ी बहिन का स्नेह-सम्बल मेरे अस्तित्व का आधार है उसका तो संसार ही सूना था। और यह मँझली बहिन मुझमें अपने को उँड़ेल कर भी किसी की पराधीन पत्नी ही थी। छूटे हुए गाँव में भी कोई गृह-सुख नहीं था, वहाँ तो मेरी स्थिति ह्यूगो के 'ला मिजराबुल' की 'कासेट'-जैसी थी।

फिर भी गाँव की याद में मैं रोता रहता। वहाँ था विश्व-कुटुम्ब की जननी उस अतुल स्नेहमयी प्रकृति के दिगञ्चल का विशद प्रसार जिसके सुखद आँचल के नीचे 'चिन्ता-रहित, अनलसित, वारि-बिम्ब-से विमल हृदय' शिशुओं का सुन्दर सरल समाज हँसता-किलकता रहता। घर में उसी जगन्माता की प्रतिमा 'बड़की माई' (बूढ़ी दादी) अपनी ममता से मुझे भी सुध दिला देती—मैं भी किसी परिवार का प्राणी हूँ!

गाँव से बिछुड़ जाने पर मुझे सबसे अधिक उसी की याद आती रहती। मेरी आँखों के छोटे छोटे सपनों में वह अपनी दोनों शिथिल बाँहें फैला देती।

भूसे और पुआल की कोठारी में अपनी निशीथ-शय्या के अगल-बगल बिठा कर वह अपनी कहानियों से हमारे चारों ओर उन अदृश्य प्राणियों को भी उपस्थित कर देती थी जो कहीं के राजा थे, कहीं की रानी, कहीं के राजकुमार, कहीं की राजकुमारी, कहीं के भाई, कहीं की बहिन, कहीं की माता, कहीं की कन्या, कहीं के तोता, कहीं के सुग्गा।

बचपन के उन्हीं दिनों की ग्राम्यस्मृति से मेरा हृदय आज भी विह्वल हो उठता है—

वहीं लौट कर चला गया है
वह सुख-सुषमा का संसार
जहाँ खेलता-खिलता रहता
जननि प्रकृति का शिशु-परिवार
चलो चलो, हम वहीं चलें फिर
लेकर अपनी क्षीण पुकार
नदियों से हम पानी माँगें
वसुधा से चावल दो-चार।

···धीरे-धीरे इस नये गाँव में भी मुझे उसी जगज्जननी का आभास मिलने लगा।

घर के पीछे बहती तलैय्या, बस्ती के चारों ओर पोखर और खेतों का खुला मैदान, बाजार की चहल-पहल, मदरसे की हलचल, इन सबने मेरे मन को हिला-मिला लिया। यह गाँव नहीं, कसबा था—गाँव और नगर का मध्यवर्त्ती जनपद।

यहाँ भी अवकाश के समय खेती-बारी के सम्पर्क में वह कृषि-कर्म्म बना रहा जो अपने गाँव में था।

किन्तु यहाँ मैं दुहरे शासन के बीच आ पड़ा। अध्यापकों के शासन की अपेक्षा घर का शासन अधिक कठोर था। घर में उन्हीं का शासन था जो मँझली बहिन के स्वामी थे। उनके भय से मानों घर की दीवालें भी स्तम्भित थीं। मेरे स्वभाव में उन्हीं के आतङ्क से जनभीरुता आ गयी।

मदरसे से लौटने पर आस-पास जाकर हँसने, खेलने की स्वतन्त्रता नहीं थी। घर के सामने ही एक कोने में चुपचाप जा बैठता। मन में चारों ओर से सूनापन उमड़ पड़ता। भीतर ही भीतर मूक क्रन्दन उद्वेलित हो उठता।

मेरा वही करुण सूनापन काव्योन्मुख हो गया। पाठ्यपुस्तक में पढ़ी हुई कविताएँ ही मेरे एकान्त का गान बन गईं। अपने सूनेपन की साँसों में मैं उन दिनों सभी रसों की कविताएँ करुण-लय से ही गुनगुनाने लगता। वह प्रथम विश्व-युद्ध का उपसंहार-काल और हिन्दी का द्विवेदी-युग था।

···घर में मँझली बहिन के वृद्ध श्वशुर ही मेरे भी कुलपति थे, आश्रय थे। पोथी-पत्रा-पञ्चाङ्ग-वैद्यक इन्हीं में उनके जीवन का कर्म्म-स्रोत चारों ओर बह कर सारे गाँव को आप्यायित करता रहता। हारी-बीमारी के दिनों में सब उन्हीं के पास दौड़े आते। किसी घर में उनके पैर पड़ते ही

उस घर का आधा रोग-शोक दूर हो जाता। धार्मिक शुभकृत्यों में वे ही सबके गुरु वशिष्ठ थे।

उन्हीं को पाकर वहाँ भी मैंने पिता का हृदय पा लिया था। उनका सारा वात्सल्य मुझी पर केन्द्रित हो गया था। मैं उन्हें बाबा कहता, वे मुझे 'गुडिया' कहते। देहात में नगर की तरह ही मैं पतंग को 'गुड्डी' कहा करता। इसलिए मेरा नाम भी साथियों में 'गुड्डी' और बड़ों में 'गुडिया' हो गया। गाँव के सभी बड़े 'गुडिया' को बहुत प्यार करते। और साथी, अपने पतंग की तरह ही 'गुड्डी' से भी अपना मन बहला लेते।

बाबा सूधे थे। जब कभी सत्यनारायण की कथा बाँच कर वे लौटते मैं उन्हें कागज-कलम-दावात के लिए राह में ही घेर लेता। अपना मन रमाने के लिए वे मुझे भी छोटा पुरोहित बना कर अपनी जजमानी में साथ ले जाने लगे।

'''सब का मन भर कर भी मेरा मन रिक्त ही रिक्त रहता। ऐसा लगता, मुझमें मेरा कुछ है ही नहीं; वातावरण को प्रतिध्वनित कर बाँसुरी के शून्य रन्ध्रों की तरह जीवन के सूने क्षण स्वयं निःस्वन ही रह जाते।

उन दिनों गाँव की तहसील भी अपनी सुदूरता के सम्मोहन से मन को बेसुध कर जाती थी। ऐसा जान पड़ता कि एक बार वहाँ पहुँच पाऊँ तो समुद्र की तरह लहराते हुए उस संसार का छोर पा जाऊँ जिसकी कल्पनाओं से ही मन उमग-उमग उठता। छुट्टी के दिन जब सयाने विद्यार्थी तहसील के मिडिलस्कूल या शहर के अंग्रेजी स्कूल से गाँव आते तब मैं उन्हें ही देख-देख कर उस संसार में पहुँच जाने का संतोष कर लेता।

कभी-कभी खेतों के बीच सुनसान पगडंडी पर आकाश में एक टूटे तारे की तरह दौड़ता और अपने भाले में गुँथे घुँघुरुओं को झनझनाता

हुआ डाक का हरकारा जब दिखाई दे जाता तब जान पड़ता मानों शून्य का सूत्रधार वही है।

···मन में तरङ्गित, बाहर निस्तरङ्गित जीवन अपनी दैनिक गति से बहता चला जा रहा था। अचानक एक दिन तीसरे पहर मदरसे में मुझे खोजते हुए कोई ग्राम्यपथिक आ पहुँचा। हेडमास्टर साहब ने जब मुझे उसके सामने उपस्थित कर दिया तब उसने एक बिलकुल अप्रत्याशित समाचार दिया—बाहर बड़ी बहिन बुला रही है!

बहिन! यहाँ कैसे! वह तो काशी में थी! ज्ञात हुआ, अपने गाँव से लौटती हुई वह काशी जा रही है और मुझे भी अपने साथ ले जाना चाहती है, मदरसे के सामने ही कुएँ की जगत पर प्रतीक्षा कर रही है।

मदरसे के अपने प्राकृत रूप में ही जब मैं उसके सामने जा उपस्थित हुआ तब वह मुझे साथ लेकर बाहर ही बाहर काशी के लिए चल पड़ी। घर में किसी से भेंट भी नहीं हो सकी।

··· ··· ···

इतने दिनों बाद काशी में सब कुछ अपरिचित-सा हो गया था। केवल गङ्गा-तट ही चिरपरिचित आश्रय-जैसा जान पड़ा। अनन्त नभ में एक विरल तारिका की तरह दूर विजन में पाल ताने तेजी से बहती चली जाती कोई एकाकिनी नौका मेरे ही जीवन जैसी जान पड़ती थी।

वहीं बैठ कर मैं मदरसे को, मदरसे के साथियों को, मास्टर साहब को, बाबा को, मँझली बहिन को, ···सबको याद करता रहता। फिर अपने को सूना-सूना पाकर रो पड़ता।

हाय रे मनुष्य! तेरे मोह का अन्त कहाँ है? जिसे छोड़ना चाहता है फिर उसी के लिए रोने लगता है। जीवन भर जिस संसार से ऊब जाता है,

महायात्रा के दिन उसे भी छोड़ते हुए बिलख पड़ता है : 'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन ।'

...धीरे धीरे वह देहात भी पूर्वजन्म की तरह कहीं बहुत पीछे छूट गया ।

शहर के इस स्कूल में लड़के मुझे गँवई-गाँव का गँवार समझ कर बड़ी आसानी से अपना बड़प्पन दिखा जाते । किन्तु मैं पढ़ने-लिखने में सबसे अच्छा निकल गया ।

बहिन का भी उत्साह उमग उठा । वह कहीं से भी मुझे अभाव का अनुभव नहीं होने देती । उसकी छाया में मैं उसी तरह आश्वस्त था जैसे माँ के आँचल में ढँपा कोई बालक ।

उसी ने मेरे मन को रङ्क नहीं होने दिया ।

नन्हें-नन्हें हाथों से जब मैं संसार के प्रहारों का अवरोध नहीं कर पाता तब वह सिंहनी की तरह आगे आ जाती । वयस्क हो जाने पर भी मेरी शक्ति वही थी ।

उसी के कारण संसार में मुझे भी अपने अस्तित्व का अनुभव होता । वही मेरी संसृति थी ।

अब कभी-कभी सोचता हूँ, वह बड़ी बहिन न होकर बड़ा भाई होती तब ? न जाने जीवन का क्या रूपान्तर होता !

... ...

काशी को मैंने बाल्यक्रीड़ा की आँखों से ही देखा था । फिर काशी आ जाने पर मैं नागरिक अभिव्यक्तियों को ग्रहण नहीं कर पाता था । दूकानों के साइनबोर्डों और दीवालों पर चिपके पोस्टरों को देख कर मैं विस्मय-विमूढ़ हो जाता । उनका अभिप्राय ही नहीं समझ पाता था । देहात में तो यह सब, कुछ नहीं था ।

ऐसे ही अनजान दिनों में मेरा मन पढ़ने-लिखने में दत्तचित्त हो गया।

उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं का नाम भी नहीं सुना था। मेरी पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त भी संसार में बहुत-सी पुस्तकें हैं, इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। पहिले पहिल जब पुस्तकालय में पत्र-पत्रिकाओं की पंगत देखी, तब वे अपने सादे-रंगीन सभी तरह के मुखपृष्ठों में बड़ी सुहावनी और अपने भीतर कोई अज्ञात सुरम्य लोक छिपाये जान पड़ीं। किसी के हाथों में नई-नई किताबें देख कर भी ऐसा ही मनोरम आभास होने लगता।···

परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर मुहल्ले के स्कूल की सीमा पार कर आगे की पढ़ाई के लिए घर से बहुत दूर शहर के मिडिल स्कूल में आना-जाना पड़ा। उस साल अपने स्कूल में ही नहीं, बल्कि शहर के सभी प्राइमरी स्कूलों के परीक्षा-फल में मेरा नम्बर सबसे आगे था, इसलिए मिडिल स्कूल में पहिले ही दिन से मैं अध्यापकों का प्रियपात्र बन गया। पाँचवें दर्जे में पढ़ रहा था, किन्तु हिन्दी और गणित में तेज होने के कारण स्कूल के हेडमास्टर मुझे सातवें दर्जे में ले लेना चाहते थे।

···अचानक एक दिन सबकी आशाओं पर तुषारपात हो गया, जब मैंने पढ़ना छोड़ दिया।

छोड़ने का कारण मेरा प्रतनु तन, स्वल्प श्रवण, स्वप्निल मन है।

वह सन् १९२० के असहयोग-आन्दोलन का आरम्भ-काल था। सबको स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करते देख कर मुझे भी ढाढ़स बँधा।

स्कूल छोड़ने के बाद मैं सार्वजनिक सभाओं और समाचारपत्रों के सम्पर्क में आ गया। किन्तु सभाओं और अखबारों के चर्वित चर्व्वण से मेरी आत्मा को आन्तरिक आहार नहीं मिला।

ज्ञान की भूख बनी हुई थी, वह अपने गोचारण के लिए जीवन की कोई मुक्तभूमि चाहती थी।

मेरा विद्यापीठ तो उन्हीं पिता-श्री के पावन चरणों में स्थित था जो अरण्यचारी एकान्तविहारी थे। वे ही मुझे अपने समीप बिठा कर मेरी सारी भव-बाधा दूर कर सकते थे। ओह, जब वे ध्यानस्थ थे तब मैं उन्हें पहिचान नहीं सका, जब वे विश्व से ही अन्तर्द्धान हो गये तब मैं उनके लिए लालायित हो उठा।

... ...

मेरा स्वप्निल मन भ्रमणशील हो गया। उन दिनों जब मैं अदृश्य उद्देश्य की ओर निरुद्देश्य होकर भटक रहा था, तब बहिन ने अपना हाथ समेट कर मुझे अनुभव और स्वावलम्बन के पथ पर एकाकी बढ़ जाने दिया। उसका मौन आशीर्वाद ही मेरा पाथेय था।

जीवन अनिश्चित अलक्ष्य की ओर बह चला उस सरिता की तरह ही जो—

नहीं जानती वह किस पथ से
बहता किस दिशि में जीवन
नहीं जानती वह किस प्रिय से
मिलने जाता उसका मन।

वे भी क्या दिन थे! पवन की तरह मैं अनिकेतन चारों ओर पर्य्यटन कर रहा था—न मुझे काल-भय का, न विश्व-भय। न अपनी निर्धनता पर क्षुब्ध था, न सम्पन्नता पर लुब्ध। नंगे पैर, नंगे सिर, शरीर की तरह ही शीर्ण वस्त्राच्छादन में निर्द्वन्द्व मन किसी निष्किञ्चन परिव्राजक की तरह डोल रहा था। सर्दी-गर्मी-बरसात मुझे कँपाती-तपाती-नहलाती-धुलाती बाहर ही बाहर निकल जाती थी—

"अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय-अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह माँ के
दूध से धुली मृदु मुस्कान
...

अहो दयामय ! फिर लौटा दो
मेरी पद-प्रिय-चञ्चलता,
तरल तरङ्गों-सी वह लीला,
निर्विकार भावना लता ।"
... ...

..."बहिनों की तरह ही मेरे जीवन में संन्यासियों का भी आभार है। बहिनें अपने स्नेह की बाती सँजोती रहीं, संन्यासी अपना आलोक-दान देते रहे।

उस अनिकेतन-जीवन में भी स्वाध्याय चलता रहा। यह संयोग ही था कि पुस्तकें अनायास अच्छी ही मिलती गईं।

एक दिन अकस्मात ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थ का जीवन-चरित्र पा गया।"....वह आनन्दकन्द सच्चिदानन्द-विहारी राजहंस मुझे भी अपने मानसरोवर में बहा ले गया।

असन-वसन से निर्मोह हो गया। मन में मधुकरी वृत्ति जग गई। स्वयं जो शरीर आत्मा पर भार है उस शरीर पर वसन भी भार ही जान पड़ने लगा। दो-अढ़ाई हाथ की सीधी-सादी लुग्गी में ही मेरा श्वेताम्बर-दिगम्बर-कलेवर अम्बर-डम्बर के दुर्वह भार से मुक्त हो गया। उन दिनों

जब मुझे कोई भरपूर वस्त्र देना चाहता तो ऐसा जान पड़ता, मानों वह मेरे तन-बदन में आग लगाने आ रहा है।

···जिस निर्लिप्त अनुराग से वृन्दावनविहारी विश्वविहार करते थे उसी अनुराग से अनुरञ्जित होकर मेरा हृदय भी निखिल सृष्टि में विचरण करने लगा।

जंगल ही मंगल हो गया। किसी सार्वजनिक स्थान की छत पर अथवा निषेध-रहित खुले मैदानों में या गङ्गा के उपकूलों में ही सो जाता। आह्निक एकाहार अन्नक्षेत्रों में पा जाता।

अहा, वे दिन भी कितने सुन्दर थे! अणु-अणु, कण-कण, जन-जन, सारा अग-जग ही कितना प्यारा लगता था! रूप-कुरूप सब एक ही परम चेतना से उद्भासित होकर चाँदनी में सम-विषम धरातल की तरह सरल कोमल मधुर मनोहर हो गये थे। सारी सृष्टि अभेद की तन्मयता में एकाकार हो गई थी।

मन सब ओर खिला-खिला रहता था। सुकुमार-भीमाकार सभी आकार-प्रकार के प्राणियों को देख कर उनसे मिलने के लिए हृदय ललक-पुलक उठता। काल-भुजंग भी अपने फण पर नृत्यमञ्च जान पड़ता था।

जिससे मिलता, वह मुझे अपनी ही आत्मा की आवृत्ति-सा लगता था। जिस किसी के गले में हाथ डाल देता, जान पड़ता, मैं अपने ही को भेंट रहा हूँ। जन-समाज को देख कर स्वामी राम की तरह मैं भी बोल उठता था—इन विविध रूपों में शोभायमान मेरे ही ब्रह्मन्!

उस आत्मबोध में 'स्वर्ण गगन-सा एक ज्योति से आलिङ्गित जग का परिचय' था।

उन्हीं दिनों एक गुरुजन ने मेरा नूतन नामकरण कर दिया—शान्तिप्रिय।

अह, वह श्रमण-कुमार, वह तन्वङ्ग बालयति अब मेरे ही भीतर कहाँ ओझल हो गया!

... ...

विश्व ने जिस दिन मुझे भी अपने दैनिक व्यापारों में खींच लिया उस दिन अपने जीवन का सार-अंश सौन्दर्य्य-संस्कार लेकर ही मैंने संसार में प्रवेश किया।

बधिर होने के कारण मैं बहिर्जगत को तो नहीं ग्रहण कर पाया, किन्तु दृष्टि-पथ द्वारा दृश्यजगत को प्रकृति के सौन्दर्य्य-निकेतन के रूप में अपना लिया।

मेरा सौन्दर्य्य-संस्कार प्रकृति के आँगन देहात में ही मुकुलित हो गया था।

प्रकृति की सुस्निग्ध सुषमा जब किसी मुखमण्डल पर खिल पड़ती है तब वह भी मुझे प्रकृति की तरह ही प्रिय लगता है। सुन्दर मुखाकृति प्रकृति की ही प्रतिकृति जान पड़ती है। प्रकृति नारी है, 'देवि मा सहचरि प्राण' है। शिशु-मुख की सरलता, कमनीयता, सुस्निग्धता में नारी के ही अन्तःस्वारस्य का अनुलेप रहता है, हृदय की भाव-साधना के अभाव में ज्यों-ज्यों वह विलुप्त होता जाता है, प्राणी कुरूप और परुष जान पड़ने लगता है।

मुझे कैशोर्य्य का नव-किसलय-सौन्दर्य्य ही विशेष प्रिय है। उसमें मुझे अपना भी आभास मिलता है। जब किसी कुसुम-मुख को कुछ क्षण खिल कर मुरझा जाते देखता हूँ तब विदीर्ण हृदय से बोल उठता हूँ—

अरे, तुम्हीं-सा कभी खिला था
मैं भी अपने उपवन में,
चमक रही थीं मेरी छवि की
किरणें जग के कन-कन में।

...

किन्तु हाय, क्यों दो दिन में ही
तुम भी मुरझा चले अहो,
किस विषाद से किस अभाव से
मुझसे भी कुछ कहो-कहो!

सौन्दर्य्य में नारी का ही उन्मेष पाकर तितली के साथ मेरी भी आत्मा बालिका बन जाना चाहती है—

तितली, तितली, मुझको भी तो
दे दो अपनी चञ्चलता,
दे दो दे दो हाँ सखि, मुझको
अपनी प्यारी कोमलता।
वन-वन विहरण करूँ तुम्हीं-सी
एक बालिका बन छविमय,
फूली नहीं समाऊँगी मैं
खेलूँगी निशि दिन निर्भय।

... ...

सगुण सृष्टि में सौन्दर्य्य के बालप्रभु मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर नटनागर कृष्ण मेरे आराध्य हैं। उन्होंने ही शून्य में सौन्दर्य्य, सौन्दर्य्य में भाव,

भाव में लीला का उद्रेक कर सृष्टि को मधुर सुन्दर कल-कोमल प्रेमल बना दिया है। वह देखो—

"दूर मधुवन से बजाता कौन मोहन राग भीनी वेणु
मुग्ध वृन्दा-विपिन-पनघट पर खड़ी है सहज गोपा धेनु
बेंचती गोरस भिंगोती चिह्नपद पर स्वर्णमय व्रजरेणु।"

कृष्ण प्रकृति के कवि-पुरुष हैं। जहाँ कहीं सृष्टि की सरल सुषमा है वहीं वहीं उनका हृदय है—गौ में, गोपियों में, गोपों में, गोपकुमारों में, वृन्दावन-वीथियों में। वे ही गौ हैं, गोपी हैं, गोप हैं, गोपकुमार हैं। सबमें रम कर वे आत्मरमण कर रहे हैं। उन्हीं के विविध रूपों में गोचर प्रकृति का परिवार सुन्दर साकार है। गो-संस्कृति और उसकी रसात्मक अभिव्यक्ति (कला) में ही उनका कवित्वपूर्ण व्यक्तित्व है। अपने हृदय की हरीतिमा से मरु को नन्दनवन और मुरली की मधुरता से जीवन को सङ्गीत बना कर उन्होंने स्वप्न को सत्य कर दिया है।

उस कला-पुरुष के जीवन में राजनीति का प्रवेश कुछ अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है, किन्तु सत् के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और असत् के प्रति निष्ठुर होकर वह अपनी ही मनोज्ञ सृष्टि में तटस्थ है।

हिन्दी का छायावाद-युग भी कृष्ण-युग की तरह ही स्वप्निल था।

छायावाद में मुझे अपने जीवन की समष्टि मिली। उसमें प्रकृति-प्रदत्त सौन्दर्य्यानुराग भी मिला और अपना निःसङ्ग जीवन, बहिन का सूनापन, माँ का अन्तःकरण, पिता का तपश्चरण, स्वामी राम का आत्मोद्बोधन, यह सब कुछ भी मिल गया।

जब मैंने छायावाद के सम्बन्ध में अपना अध्ययन दिया तब उसमें मेरे ही जीवन का साकल्य था।

छायावाद-युग में मैं भी कवि बन गया था, 'नीरव' और 'हिमानी' उस समय की मेरी लघु रचनाएँ हैं।

छायावाद का प्रभाव मेरे साहित्यिक निवन्धों पर भी पड़ा है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ की सङ्गीतपूर्ण शैली और प्रिय कवि पन्त जी की चित्रमयी भाषा को मैंने अपने गद्य में प्राण और श्रृङ्गार बना लेना चाहा है। यथास्थान साहित्य की शास्त्रीय गम्भीरता से विचारों का अस्थि-सुदृढ़-आधार भी ले लिया है।

युग के सार्वजनिक प्रयत्नों का भी मैंने साहित्य में समावेश किया है। लेकिन अब ऐसा जान पड़ता है कि आज के सभी सार्वजनिक प्रयत्नों में उस अन्तःस्वारस्य का अभाव है जिसके बिना लोक-हृदय पनप नहीं सकता।

अपने साहित्यिक निवन्धों में मैंने यत्र-तत्र अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। अंग्रेजी शब्दों से मुझे अनुराग नहीं है, मेरा आर्य्यत्व संस्कृत शब्दों से ही सम्पूर्ण विश्व को सुसंस्कृत देखना चाहता है। फिर भी, कहीं तो वातावरण का आभास, कहीं मनोभावों को निश्चित शब्द देने के लिए मैंने साहित्य में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है। अवश्य ही आंग्ल शब्दों के प्रयोग में मुझसे अतिरेक भी हो गया है, जिसे मैं अब पसन्द नहीं करता।

मेरी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी की साक्षरता तक ही सीमित होने के कारण अन्तःप्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का सहयोग मुझे उतना ही प्राप्त है जितना अपनी भाषा के माध्यम से सम्भव है। लेकिन अति धन की तरह अति अध्ययन पर मेरा विश्वास नहीं है। ज्ञान के आश्रम का केवल लव-कुश बना रह सकूँ, यही अभिलाषा है।

... ...

'नीरव' और 'हिमानी' के बाद, प्रगतिशील युग के आने के पहिले ही, मेरा काव्यस्रोत सूख गया। शैशव की सहज-सुलभ तरलता के निम्नतल में अवस्थित वस्तुजगत का शुष्क धरातल रसाभाव से ऊपर उभर आया। किन्तु रस निःशेष नहीं हो गया, वह अन्तःकरण में फल्गु की तरह अदृश्य है।

आज भी मेरे प्राण सौन्दर्य्य-प्रवण हैं। सौन्दर्य्य के शिल्पी : चिरसुन्दर कवि पन्त जी की रचनाओं में मेरे मन का मनोरम संसार है।

आकृति में, प्रकृति में, संस्कृति में, जीवन की प्रत्येक सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति में मेरे सौन्दर्य्य के उपादान हैं। किन्तु लोक-जीवन का पथ पग-पग पर कुरुचि, कुरूपता, वीभत्सता से इतना अशोभन हो गया है। कि जुगुप्सा से नाक, कान, आँख बन्द कर लेनी पड़ती है। जीवन-पथ को शुचिता और रुचिरता, संस्कृति और कला की वीथिका बना कर चलना सुगम नहीं रह गया है। वातावरण की मलिनता को मङ्गल से अभिषिक्त कर देने के लिए मुँह से बरबस निकल पड़ता है—हरे शिव हरे शिव, हरे राम हरे राम, हरे कृष्ण हरे कृष्ण।

देखता हूँ, जीवन की सर्वाङ्गीण सुषमा (आकृति, प्रकृति, संस्कृति, कला) यशपाल की 'दिव्या' की तरह ही इस युग में भी अभिशप्त हो गई है।

सच तो यह है कि रूप-कुरूप, पाप-पुण्य, सद्-असद् , विपद्-सम्पद् सब कुछ चिरन्तन से अभिशप्त ही चला आ रहा है।

वर्त्तमान काल : युगों की ऐतिहासिक विकृतियों का पुञ्जीभूत युग है। इस युग में राजनीति और अर्थशास्त्र अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। सभी की भीतरी मुखाकृतियाँ स्वार्थ के आर्थिक ढाँचे में जघन्य हो गई हैं। आज बालक के ओठों पर भी भोलापन नहीं है। जीवन केवल पाशविक व्यापार मात्र रह गया है। पुण्य भी पण्य बन गया है। प्रत्येक केवल अपने ही अहम् की चिन्ता से त्राहि-त्राहि कर रहा है।

अरे, यही है क्या वह संसार जिसका ओर-छोर । जाने के लिए देहात में मेरा शिशुमन उत्कण्ठित हो उठता था ?—

'यह तो मानव-लोक नहीं रे

यह है नरक अपरिचित ।'

ऐतिहासिक विकृतियों के इस संक्रान्त युग में मेरा भी जीवन आक्रान्त हो गया है—'हम संक्रान्ति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग ।'

मन वैष्णव, संस्कार पारिवारिक, जीवन व्यापारिक (अर्थतान्त्रिक) युग का हुताशन !

...शरद के 'देवदास' में मुझे अपनापन मिलता है। वह नारी के बलिदान से संवेदनशील होकर स्वेच्छा से अपना भी बलिदान देता है। पार्वती, सीता, राधा ने पुरुष के लिए जो जीवनोत्सर्ग किया इस युग में वही उत्सर्ग पुरुष को उनके लिए करना है। देवदास के जीवन का यही सङ्केत है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए स्थापित स्वार्थों के साथ सन्धि करने में अन्तरात्मा को अपने सतीत्व का सङ्कोच है, अतएव अभावों को स्वेच्छा से भी स्वीकार कर लेना पड़ता है। अन्तःपुर (अन्तःप्रदेश) का द्वार लाँघ कर एक पग बाहर रखते ही सारे सांसारिक ऐश्वर्य्य सुलभ हो सकते हैं, लेकिन उनमें फिर आनन्द ही क्या रह जाता है !

देवदास को वर्त्तमान समाज से प्राप्त वरदान (सुख-सम्पदा) अश्रुओं से अभिशप्त जान पड़ा। ऐसे वरदान को वह वरण नहीं कर सका। जिन्हें यह अभिशप्त वरदान भी वरेण्य जान पड़ता है, वे इस समाज से—स्थापित स्वार्थों के इस समूह से—वैसे ही लिप्त हैं जैसे शव से गृद्ध। मेरा देवदास निर्लिप्त है—विष में भी, अमृत में भी। वह शिव है। युगों का सूनापन ही उसका विश्वनिलय है।

आज बहिन में और मुझमें पुराण और इतिहास का अन्तर पड़ गया है। अब भी मुझमें अवशिष्ट पौराणिक आस्थाएँ बहिन की हैं, ऐतिहासिक (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) विकृतियाँ मेरे युग की हैं। ये विकृतियाँ मेरे जीवन में अनवगुण्ठित हैं, इसलिए उनका विद्रूपचित्र बना लेना आसान है। किन्तु वह चित्र मेरा नहीं, इतिहास का है, जिससे कोई भी असम्पृक्त नहीं है। मेरी तो कवि के साथ यही मनोवाञ्छा है—

"घृणा उपेक्षा में रह अविचल,
निन्दा लाञ्छन से बन उज्ज्वल,
त्रुटियों से ज्योतित कर निज पथ
भव-यात्रा की श्रान्ति बनूँ मैं।
झेल निराशा औ' निष्फलता,
दैन्य, स्वभाव-जनित दुर्बलता,
आगे बढ़ूँ धीर एकाकी
भाग्यचक्र को भ्रान्ति बनूँ मैं॥"

... ...

उस दिन बहिन की चिता की परिक्रमा में मैंने युग के प्रज्ज्वलित अभिशापों की ही परिक्रमा की थी। आज उसी चिता की ज्वाला सारे संसार में फैली हुई है। मेरी ही तरह आज सारा संसार अभिशापों की परिक्रमा कर रहा है।

इस परिक्रमा की परिसमाप्ति कहाँ है?

जी चाहता है, फिर उन्हीं जनपदों की सेवा में निकल पड़ूँ जहाँ से आकर मैं नगरप्रवासी हो गया।

कुणाल की तरह मैं भी किसी काञ्चनमाला से कहना चाहता हूँ—

"प्रिये, आज तो त्याग-दिवस है
सुख ही नहीं, दुःख भी बस है।
यह भी एक नया ही रस है,
तुम क्यों कातर होती ?
अयि जीवन की ज्योती !"

काशी
९–८–४६

पर्य्यवेक्षण

"अह, किस गहरे अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार।"

... ...

इस शताब्दी का द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका है। समाप्त होकर भी वह अपने पीछे प्रलय-निशा का सघन अन्धकार छोड़ गया है। प्रथम विश्व-युद्ध यदि धूमकेतु की तरह धुएँ की लहर उठाता हुआ चला गया तो द्वितीय विश्व-युद्ध राहुकेतु की तरह जीवन के प्रकृत प्रकाश को ग्रस कर दिशावधि को अपार अन्धकार से आच्छन्न कर गया है। आज सारा संसार एक अभूतपूर्व सङ्कट-काल से गुजर रहा है।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद संसार फिर अपनी पूर्वगति से चल पड़ा था, किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उसकी गति कुण्ठित हो गई है। वह चल नहीं रहा है, अन्धकार में लड़खड़ा रहा है, गिर कर पृथ्वी के नये अङ्कुरों को उगने के लिए स्थान रिक्त करने जा रहा है।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने अन्न, धन, जन का इतना अधिक शोषण किया जितना शताब्दियों की सामन्तशाही और साम्राज्यशाही में भी नहीं हो सका था। इसका महादुष्परिणाम यह हुआ कि जीवन के सभी साधनों का अभाव हो गया, एक साथ ही सभी देशों में, सभी चीजों का अकाल पड़ गया।

ऐसी स्थिति में भी उद्धार हो सकता था, यदि मनुष्यों में परस्पर मानवीय सहयोग होता। बचपन में पढ़ी हुई एक कहानी याद आती है। किसी गाँव में आग लगी। गाँव के सब लोग भाग गये, छूट गये दो प्राणी: एक अन्धा, एक लँगड़ा। अन्धे ने लँगड़े से कहा—भाई, तुम मेरे कन्धे पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें अपने पैरों से ले चलूँ, तुम मुझे अपनी आँखों से रास्ता बताते चलो। इस तरह वे दोनों असमर्थ भी बच गये। आज मनुष्य में इसी सहज स्वाभाविक सहयोगिता का लोप हो गया है। यदि परस्पर सहयोग नहीं है तो जो समर्थ हैं वे भी पलायन करके कब तक प्राण-रक्षा कर सकेंगे। जहाँ मनुष्य अपने में ही सङ्कीर्ण हो गया है वहाँ उसकी सङ्कीर्णता ही उसे खा जायगी।

जीने के साधन तो समाप्त हो गये हैं, किन्तु पृथ्वी के अवशिष्ट उञ्छ से सभी अपना-अपना स्वार्थ पुष्ट कर लेने के लिए उतावले हैं। प्रत्येक वर्ग एक दूसरे के प्रति सन्दिग्ध और प्रतियोगी हो गया है। प्रत्येक एक दूसरे को आवश्यकता-ग्रस्त समझ कर उसकी विवशता से मनमाना लाभ उठा लेना चाहता है। यही कारण है कि अन्न और धन ही नहीं, गृह और जन भी दुर्लभ हो गये हैं। खोजने पर मकान नहीं मिलते, कर्म्मचारी नहीं मिलते। असल में सामाजिकता (सहयोगिता) टूटती जा रही है, व्यापारिकता (आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा) तीव्र होती जा रही है। उसकी तीव्रता अपने ही वेग के आधिक्य से समाप्त हो जाने के लिए है।

आज जीवन कितना शून्य हो गया है, इसका परिचय सिनेमाघरों की भीड़ देख कर मिल जाता है। क्या निर्धन, क्या धनिक, क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, सभी अपने-अपने अभावों को छायापट पर परछाईं की तरह मिटती हुई तसवीरों से भर लेना चाहते हैं। इस प्रकार जीवन के

खोखलेपन को सिनेमा देख-देख कर भुलाया जा रहा है। आज सभी वर्गों के जीवन की एकमात्र परिणति है—निर्जीवता।

प्राणित्त्व लुप्त होता जा रहा है और महानाश की ओर बढ़नेवाली दुनिया अभी तक जीवन को सौदा बना कर आपस में एक दूसरे को छल रही है—

'चाँदी सोने की आशा पर अन्तस्तल का सौदा
हाथ-पाँव जकड़े जाने को आमिषपूर्ण मसौदा।'

द्वितीय महायुद्ध ने अपने सर्वग्रासी शोषण से आज प्रत्येक प्राणी को स्वार्थ-विकल प्रेत बना दिया है। जीवन का दैनन्दिन क्रिया-कलाप अब भी चल रहा है, किन्तु वह अन्धकार में प्रेत-लीला-जैसा है।

आज पूर्व-युग का सहयोगी समाज विघटित हो रहा है, यन्त्र-युग का प्रतियोगी समाज विनष्ट होने के लिए ही संघटित हो रहा है। इस विकृत युग में राजनीतिक विडम्बनाओं और जनता की अज्ञानताओं का एकत्रीकरण हो गया है।

वर्त्तमान विश्वव्यापी अकाल जीवन के निर्जीव मूल्याङ्कनों (रुपया, पैसा, सोना, चाँदी) के निकट अन्त का सूचक है। निर्जीव मूल्य समाप्त होने के पहिले उस सजीव 'मूल' को हृदयङ्गम करने के लिए केवल एक क्षणिक अवसर दे रहे हैं जिसके विना मूल्य निर्मूल हो गया है। मूल्य का मूल है प्राणित्त्व, जिसे पोषण देने में असमर्थ होने के कारण वह निष्प्राण हो गया है।

कहते हैं, आज की सारी अशान्ति के मूल में वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था है जो भीतर से खोखली और बाहर से जर्जर हो गई है। पूँजीवाद जिस विन्दु पर पहुँच गया है और उसने स्वयम् जिन

समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है, वे ही आज उसके सामाजिक और आर्थिक संघटन को विचूर्ण कर रही हैं। अब वह युग आ गया है जब प्रचलित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था आज की हमारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने में, हमारी समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है। ...यही कारण है कि विश्व में भीषण और तीव्र संघर्ष चतुर्दिक दिखाई दे रहा है।...युद्ध के बाद प्रचलित व्यवस्था उस चरम विन्दु पर पहुँच गई कि उत्पन्न समस्याएँ पूँजीवाद को खा जाना चाहती हैं।

किन्तु पूँजीवाद को कोस-कोस कर हम अपने को भुलावे में ही रखे रहेंगे। पूँजीवाद तो जीवन की उस कृत्रिम व्यवस्था का वृहत् स्तूप है जिसकी निर्जीव बुनियाद सदियों से जन-समाज में डाल दी गई है। वह बुनियाद है कृत्रिम अर्थशास्त्र, वही सब अनर्थों की जड़ है। उसी के विकास हैं तन्त्र, यन्त्र, स्थापित स्वार्थ। यह बुनियाद और इसका निर्जीव निर्म्माण जीवन के प्राकृतिक प्रयास (कृषि) से विच्छिन्न होकर उसी को शोषित करने के लिए है। जमीन के भीतर यदि एक पैसा गाड़ दिया जाय तो उससे अन्न का एक दाना भी नहीं निकल सकता। इतना निर्जीव और अनुर्व्वर है यह अर्थशास्त्र, किन्तु यही अन्नप्राणता का, पृथ्वी की उर्व्वरता का मूल्य बन गया है। धन से अन्न पाना पैसे से माँस खरीदने-जैसा ही गर्हित है। जिस दिन कृषि (प्राकृतिक श्रम) को अर्थशास्त्र से बाँधा गया उसी दिन से एक ऐसी कृत्रिमता का आरम्भ किया गया जो अब अपनी आयु की अवधि पूरी कर चली है। सम्प्रति उर्व्वर की अपेक्षा अनुर्व्वर ही अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है; अन्न से धन अधिक शक्तिशाली हो गया है। यह जीवन के साथ निर्जीवता की कैसी विडम्बना है !

हम दूषित अर्थशास्त्र का शोधन-विशोधन-परिवर्द्धन करने में लगे रहे और हमारे देखते-देखते धरातल रसातल में चला गया।

देश में जो राजनीतिक आन्दोलन उठे वे भी निर्जीव अर्थशास्त्र की सीमा से ही बँधे रह गये। संघवाद (कम्युनिज्म) तो स्पष्टतः कृत्रिम अर्थशास्त्र का ही नूतन आविष्कारक होकर उदित हुआ, गान्धीवाद भी अपने को उस अर्थशास्त्र के कृत्रिम मानदण्ड से मुक्त नहीं कर सका। आवश्यकता थी सीधे कृषिक्षेत्र की ओर बढ़ने और उसका स्वाभाविक मूल्याङ्कन निर्धारित करने की। यदि शुरू से ही इस ओर ध्यान दिया गया होता तो आज प्राणरक्षा नहीं, बल्कि प्राणित्व का चरम विकास ही हमारे चिन्तन का लक्ष्य बन गया होता।

गान्धीवाद का ध्यान इसी ओर था, किन्तु वह द्राविड़ी प्राणायाम में पड़ गया, पृथ्वी की श्वासशक्ति (कृषि) को सीधे स्पर्श नहीं कर सका। गान्धी जी से जब यह प्रश्न किया गया कि खेती की बनिस्बत आप कातने पर जो ज्यादा जोर देते हैं क्या उसका कारण राजकीय है ? तब गान्धी जी ने इसके जवाब में कई बातें कहीं। उनमें से उल्लेखनीय बात यही जान पड़ी, गान्धी जी कहते हैं : 'विदेशियों का कब्जा पहिले जमीन पर होता है और वे जमीन की मार्फत दूसरी चीजों पर कब्जा करते हैं। इसलिए जमीन के सुधार में सरकार की सहायता बहुत जरूरी होती है।' किन्तु राजशक्ति से मुक्त हो जाने पर भी कृषि का आधार कृत्रिम ही बना रहा तो उससे परिस्थिति में कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं होगा। एक दिन सबसे पहिले मार्क्स ने पूँजीवादका विरोध किया था, आज पूँजीवाद को ही नहीं, बल्कि सभी तरह के कृत्रिम अर्थशास्त्र को अस्वीकार कर देना है।

आधुनिक विचारक श्रम के कृत्रिम विनिमय (मुद्रागत आर्थिक विनिमय) से उत्पन्न क्षति को मशीनों की शक्ति से सन्तुलित कर देने का आसुरिक स्वप्न देख रहे हैं। हमें मशीन नहीं, मनुष्य चाहिये; उसका अन्तःप्राणित्व चाहिये। मशीन द्वारा खेती करना फूँका द्वारा गौ का दुग्ध-

दोहन करना है। अत्यधिक उत्पादन के लोभ में मशीनों द्वारा पृथ्वी की उर्व्वरा शक्ति का दोहन करने से वह शुरू में अधिक लाभ देकर बाद में बञ्जर हो जायगी, जैसे ठुंठ गौ। उसकी स्वाभाविक जीवनी शक्ति नष्ट हो जायगी। कृषि के लिए तो गाय-बैल की अच्छी नस्ल, अच्छा बीज, अच्छी खाद और किसानों के जीवन में उल्लास और स्फूर्त्ति चाहिये।

नगरों में हम न तो स्वयं वस्त्रोत्पादन करते हैं, न अन्नोत्पादन। अपना अन्न-वस्त्र हम उन्हीं कृत्रिम आर्थिक साधनों से प्राप्त करते हैं जिन साधनों से कृषक का शोषण होता है। अतएव, हम चाहे उत्तम, मध्यम, अधम किसी भी वर्ग के हों; हम भी शोषक हैं। कोई निर्बल शोषक है, कोई प्रबल शोषक। जब दोनों की जीवन-प्रणाली एक है तब किसके कृत्य को छोटा कहें, किसके कृत्य को बड़ा? मशीन का छोटा पुर्जा और बड़ा पहिया दोनों एक ही विडम्बना की दिशा में हैं। यही विडम्बना नाना आर्थिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हो रही है। इसे लोग अराजकता कहते हैं। किन्तु यह अराजकता नहीं, विश्रृंखलता और उच्छृङ्खलता है। यह राजनीतिक विकृतियों की ही अन्तिम पुनरावृत्ति है। यह जीवन के किसी हार्दिक अनुष्ठान या मौलिक निर्म्माण की सजगता नहीं है। यदि राजनीतिक परिधि में ही हम सोचते-लड़ते-झगड़ते हैं तो अराजक होने का गौरव नहीं पा सकते। यह विश्रृंखलता और उच्छृङ्खलता तो राजनीति द्वारा स्थापित स्वार्थों की ही प्रतियोगिता है। जहाँ स्वार्थों का ही संघर्ष है, वहाँ राजनीति हस्तान्तरित भले ही हो जाय, उसके द्वारा शान्ति नहीं स्थापित हो सकती।

अराजक वही हो सकता है जिसके निर्म्माण की दिशा राजनीति से भिन्न हो। जो हार्दिक साधना की ओर अग्रसर हो। जब तक मनोरागों (स्वार्थ और अहङ्कार) का नियमन नहीं होगा तब तक बाहर की अराजकता

निरर्थक है। सत्य और अहिंसा (प्राणिमात्र के साथ संवेदनशीलता) से ही मनोरागों का नियमन हो सकता है। इन्हें अपना लेने पर ये मनुष्य के स्वनिर्म्मित हार्दिक विधान बन जायँगे।

अराजकता के लिए हमें जीवन की स्वाभाविकता की ओर अग्रसर होना पड़ेगा; नागरिकता से ग्रामीणता की ओर, जटिलता से सरलता की ओर।

नाना भेदभावों में विभक्त राष्ट्रों की तरह मानव-जीवन भी विभक्त नहीं है। सबके निर्म्माण का आधार एक ही प्राकृतिक तत्त्व है। पत्थर पर हृदय की हरी दूब नहीं जम सकती। आज के सारे उद्योग-धन्धे और राजनीतिक कार्य्यक्रम लोहे,कंकड़ और पत्थर पर पनपना चाहते हैं। बार-बार के सङ्घर्षों से यह दुष्प्रयास निष्फल हो चुका है। समय के कठोर अनुभवों का तक़ाजा है कि हम प्रकृति की ओर लौटें। जब-जब मनुष्य ने प्रकृति के साथ प्रतिद्वन्द्विता की, वह अपने लिए अधोगति का ही अध्याय तैयार करता गया है। प्रकृति की प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है राजनीति। अर्थशास्त्र उसका अस्त्र-शस्त्र है। विज्ञान उसका बाहुबल है।

वस्तुस्थिति यह है कि कुछ वर्ष बाद लोक-निर्वाह की कोई भी व्यवस्था कृत्रिम आर्थिक विनिमय से नहीं चल सकेगी, नये संसार को ग्रामोद्योग की ओर लौटना होगा। जो बात बड़े-बड़े आन्दोलनों से भी सम्भव नहीं दिखाई देती थी वह परिस्थितियों की विवशता से सम्भव हो जायगी। मुद्रागत आर्थिक आधारों को छोड़ कर मनुष्य को प्राकृतिक आधारों पर अवलम्बित होना ही पड़ेगा।

राजनीति नगरों में ही पनपती है, इसीलिए उसका अर्थ-तन्त्र भी वैसा ही कृत्रिम हो गया है। कृषकों के श्रम पर आश्रित ये नगरवासी, चाहे वे

मजदूर ही क्यों न हों, देश की जनता नहीं हैं। सभी प्रकार के नागरिक केवल राजसत्ता के कृत्रिम अवयव हैं, वसुन्धरा के स्वाभाविक हृदय नहीं। जनता तो वही है जो समाज में जनत्व को जीवित रखती है। इस दृष्टि से कृषक ही देश की वास्तविक जनता हैं। उन्हीं को सामने रख कर आज की जटिल समस्याओं का सहज समाधान पाया जा सकता है।

राम-कृष्ण उसी कृषक जनता के उद्धारक थे : कृषि और उससे प्रादुर्भूत सांस्कृतिक जीवन के उन्नायक थे। तन्त्र, यन्त्र और स्थापित स्वार्थों की जड़ता का संहार कर उनका सृजन जीवन की स्वाभाविक सजीवता की ओर था। कृषि-कन्या सीता और ग्रामकन्या राधा उनका मर्म्मकेन्द्र थीं, प्राकृतिक हृदय थीं। इस मर्म्मकेन्द्र से च्युत होकर ज्यों-ज्यों राजनीति अपनी ही सत्ता में सीमित होती गई त्यों त्यों उसका अधःपतन होता गया। आज अधःपतन ही नहीं, पूर्ण समापन होने जा रहा है।

आज दूरदर्शिता इसी में है कि राजनीति और अर्थशास्त्र की समाप्ति के पूर्व ही दैनिक विनिमय का नवीन स्वाभाविक माध्यम अभी से निश्चित कर लिया जाय। वर्त्तमान आर्थिक माध्यम में प्रत्येक वर्ग वैश्य और प्रत्येक कर्म्म वेश्या-व्यापार बन गया है। नवीन माध्यम ऐसा होना चाहिये जो समाज में प्राणित्व का उद्रेक करे, मनुष्यत्व को जाग्रत करे, जनता के आन्तरिक स्वावलम्बन को प्रस्फुटित करे। शासन को इसी प्रयत्न द्वारा अपने अन्तिम अस्तित्त्व को सार्थक कर लेना है। जैसे वृद्ध-जगत नवीन जगत को आत्मनिर्भर बना कर अवसर ग्रहण कर लेता है वैसे ही एक निश्चित समय के भीतर जनता के लिए सरकारों को विसर्जित हो जाना है।

नवीन माध्यम में व्यवसाय नहीं, अध्यवसाय; निर्जीव क्रय-विक्रय नहीं, सजीव श्रम-विनिमय होना चाहिये। ग्रामीण पद्धति से ही वस्तु

का वस्तु से आदान-प्रदान चलाना चाहिये और इस आदान-प्रदान में प्रत्येक मनुष्य का श्रम उत्पादक श्रम हो।

यदि इस आर्थिक युग के तन्त्र, यन्त्र और स्थापित स्वार्थों से शीघ्र मुक्ति नहीं ली गई तो आगे-पीछे सारे संसार की दुर्गति अकालग्रस्त बंगाल की-सी हो जायगी, जहाँ—

'अस्थि-पञ्जर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल।'

शौचाशौच और औचित्य-अनौचित्य के विवेक से रहित यह ऐसा दुर्दान्त कृतान्त युग है कि इस युग में जीने के लिए मनुष्य कापालिक बन चला है। अभी तो वह किसी तरह अपनी नग्नता ढँक कर सभ्य दानव बना हुआ है, निकट भविष्य में उसकी यह सभ्य बर्बरता भी निःशेष होने जा रही है।

अभी कल ही द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हुआ है और आज पुनः संसार में तृतीय महायुद्ध की आशङ्का प्रबल हो उठी है। यदि यह युद्ध छिड़ा तो वर्त्तमान यन्त्र-युग और भी द्रुतगति से समाप्त हो जायगा।

प्रथम विश्व-युद्ध में यन्त्र-पूर्व-युग का संहार हुआ, द्वितीय विश्व-युद्ध में यन्त्र-युग का भी उपसंहार हो गया। अब और युद्ध न होने पर भी यह यन्त्र-युग आगे चल नहीं सकता, जीवन की स्वाभाविक शक्ति के अभाव में जीवन्मृत हो गया है, केवल उसका शव-संस्कार शेष है।

यह प्रलय-काल पृथ्वी का नव-प्रसव-काल है, कोई नवीन अरुणोदय होने जा रहा है। किस दिशा में?—

'सखि! क्या कहती है, प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश?'

... ...

सम्प्रति हमारे देश में भी पाश्चात्य राजनीति का नाट्य हो रहा है। पश्चिम के प्रभुत्त्व में हमारा देश अपने मौलिक रूप में न रह कर उसकी प्रतिच्छाया मात्र रह गया है। यही कारण है कि पाश्चात्य राजनीति की विडम्बनाएँ हमारे देश में भी दिखाई दे रही हैं। पाश्चात्य पद्धति से ही स्वराज्य का स्वप्न देखा जा रहा है और उसी पद्धति से नेतृत्व किया जा रहा है। शव के साथ शिव को बाँधा जा रहा है।

पश्चिम के ही अनुकरण पर यहाँ भी अनेक राजनीतिक पार्टियाँ हैं। उनके तौर-तरीके भी वैसे ही हैं—व्याख्यान, विज्ञापन, दावे, घोषणाएँ, चुनौती, आरोप-प्रत्यारोप, ग्रह–विग्रह।

रोज नई-नई घटनाएँ घटती हैं, उनके भीतर से मौसमी कीटाणुओं की तरह नये-नये नेता निकल आते हैं। जीवन की आन्तरिक साधना से रहित, हृदय के कलुष-कल्मष का बिना त्याग किये ही, केवल अपने दुस्साहसिक चमत्कारों से नादान जनता को चमत्कृत कर वे भी नेता बन जाते हैं जो युग की महार्घता में भी अपने लिए सभी सुख-सुविधाएँ सुलभ कर लेते हैं। जनता की अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाने वाले, औपन्यासिक सनसनी पर ही जीने वाले अखबारों द्वारा उनके नाम का घर-घर में प्रचार हो जाता है। सच तो यह कि जनता बनना जितना कठिन है नेता बनना उतना ही सहज हो गया है—

> 'सम्मान्य बनने को यहाँ वक्तृत्व अच्छी युक्ति है,
> अगुआ हमारा है वही जिसके गले में उक्ति है।'

···और यह जनता क्या है?—सदियों के बौद्धिक और आर्थिक शोषण की खँडहर। धार्म्मिक गुरुडम ने इसे मूर्त्ति-पूजा और आर्थिक प्रभुत्त्व ने पेट-पूजा सिखाई है। स्थापित स्वार्थों के संसर्ग-दोष से यह भी पाशविक

हो गई है। इसमें मनुष्यता की लाज सिर्फ इतनी ही है कि अभी कृतज्ञता शेष है। जब लब्धकीर्ति महत्वाकांक्षी लोग जनता के धर्म्मभीरु और अर्थभीरु मन को राहत देने का आश्वासन देते हैं तब वह कृतज्ञतापूर्वक उनके भी पैर छूने के लिए दौड़ पड़ती है। यह कीर्त्तिशालियों की महानता का नहीं, बल्कि जनता के भूलुठित स्वार्थ की विवशता और अकिञ्चनता का सूचक है। जनता की सच्ची श्रद्धा का परिचय तो तब मिलेगा जब वह स्थापित स्वार्थों के चक्रव्यूह से मुक्त हो जाय। लेकिन मुक्त हो जाने पर भी वह अन्धपूजक बनी रह सकती है। जब तक उसका मानसिक शिक्षण सुसंस्कृत नहीं हो जाता, स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी जनता भेड़ियाधसान चाल से चलती रहेगी; चाहे उसे गड़ेरिया चराये, चाहे भेंड़िया।

इस विवेक-शून्य जनता को सभी दल अपने-अपने नेतृत्व के पीछे लगाये रखना चाहते हैं। इस समय सारे संसार में अन्न का ही नहीं, बुद्धि का भी अकाल पड़ गया है, बहुत-सी पार्टियाँ इसी की सूचक हैं।

इस समय जनता की स्थिति उस तीर्थयात्री की-सी है जिसे सभी महन्त और पण्डे स्वर्ग का प्रलोभन देकर, स्वर्ग-सुख स्वयं स्वायत्त कर लेने के लिए, अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। जनता स्वर्ग तो नहीं पाती, किन्तु उसकी अज्ञानता से नेतृत्व का स्वर्ग अवश्य फूलता-फलता है।

अर्थवाद की दीर्घकालीन दासता में जैसे जनता एक सीमित वर्ग (सम्पन्न वर्ग) के लिए अपना श्रम सुलभ करती रही है वैसे ही उसके जीवन के विधाता भी उसी वर्ग को आत्मसमर्पण करते रहे हैं। उसी वर्ग के संरक्षण में उनकी महत्ता का प्रसार होता आया है।

जनता का अन्तःकरण जगाने का उत्तरदायित्व जिनके ऊपर है, उन्हें ही सम्बोधित करते हुए कवि कहता है—

"हे राजनीतिविद्, अर्थविज्ञ !
रच शत-शत वाद, विवाद यन्त्र,
परतन्त्र किया तुमने मानव,
तुम बना न सके उसे स्वतन्त्र !

हे दर्शनज्ञ, शत तर्कों से,
सच्छास्त्रों से पा गहन ज्ञान,
तुम भी न दे सके मानव को,
उसकी मानवता का प्रमाण।

हे चित्रकार ! ले रङ्ग-तूलि,
भर रूप रेख, छायाभ अङ्ग,
चित्रित न कर सके मानव में,
तुम मानवता के रूप रङ्ग ।

गायक ! पा कोमल, मधुर कण्ठ
रच वाद्य, ताल, आलाप तान,
मानव उर तुम मानव उर में,
लय कर न सके, गा मर्म्मगान ।

हे शिल्पकार वर ! कठिन धातु,
जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण,
दे सके नहीं मानव जग को
तुम मानवता का प्रकृत मान ।"

अन्त में कवि स्वयं अपने से ही प्रश्न करता है—

कवि, नवयुग की चुन भाव राशि,
नव छन्द, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावों के गीत-यान ?

... ...

इस समय हमारे सार्वजनिक जीवन में मुख्य जनशक्तियाँ ये हैं—गान्धीवाद, प्रगतिवाद, सम्प्रदायवाद। एक और सूक्ष्मशक्ति ओझल है, छायावाद। यह कवियों के तारों में, जनता के प्राणों में प्रसुप्त है। यदि बिना उपयोगिता के काम न चले तो हम कहेंगे, छायावाद में है रसात्मक उपयोगिता : सारी उपयोगिताओं का आसव।

प्रत्यक्ष जनशक्तियाँ जनता की अन्तःप्राणिता को नहीं, उसकी उदरम्भरिता को ही छूती हैं। गान्धीवाद यद्यपि जनता की अन्तःप्रज्ञा को भी स्पर्श करता है तथापि उसमें कविजनोचित तारल्य का अभाव होने के कारण वह स्पन्दनशील नहीं। गान्धीवाद और प्रगतिवाद दोनों उपयोगितावाद हैं, एक में नैतिक उपयोगिता है, दूसरे में राजनैतिक उपयोगिता। इस प्रकार दोनों ही मनुष्य को परिचालित यन्त्र बना देते हैं, स्वतःचालित जीवित प्राणी नहीं। फिर भी परिचित जनशक्तियों में गान्धीवाद अपेक्षाकृत चैतन्य है। उसकी विशेषता यह है कि उसने ग्रामोद्योगों के रूप में जीवन के स्वाभाविक माध्यम को पहिचाना है, नैतिक आस्था के रूप में गति की अन्तर्दिशा का आभास पाया है। उसमें अवशिष्ट यान्त्रिक जड़ता वर्त्तमान राजनीति के कारण है। कालान्तर में उसी से यह भी आशा की जाती है कि जैसे उसने यन्त्र-पूर्व-युग के स्वाभाविक उद्योग को अपनाया, उसी तरह उस युग के प्राणयोग (भाव-योग) को भी अपना सकेगा।

नैतिक और राजनैतिक उपयोगिता में केवल अनुशासन या नियन्त्रण है, अन्तरद्रवण नहीं। अतएव, इन जड़ीभूत उपयोगिताओं में जनता की अन्तश्चेतना सञ्चालित करने के लिए रसात्मक उपयोगिता (छायावाद) की आवश्यकता है। नैतिक और राजनैतिक उपयोगिता की छायावाद ने उपेक्षा नहीं की, केवल उसमें उपयोगिता को उपलब्ध करने का माध्यम (भाव) अधिक हार्दिक हो गया। मध्ययुगीन वैष्णव कवियों ने इसी रसात्मक माध्यम से जनता का हृदय स्पन्दित किया था। इस माध्यम की उपेक्षा करके कोई भी आन्दोलन आन्तरिक शक्ति नहीं पा सकेगा, वह क्षण भर का मनोद्वेग बन कर बुद्‌बुदों की तरह विलीन हो जायगा।

वादों का नाम रूप हटा कर देखने पर हमारे सामने सार्वजनिक जीवन की ये प्रेरक शक्तियाँ आती हैं—राजनीति, संस्कृति, कला।

इनमें मुख्य शक्ति है राजनीति और उसके अस्तित्व का आधार है टकसाली अर्थशास्त्र। वर्त्तमान राजनीति (चाहे वह किसी भी दल, वाद या वर्ग की हो) अप्राकृतिक, असामाजिक, अमानवीय है। वह टिकेगी नहीं, निर्जीव आर्थिक आधार (स्वार्थपूर्ण आधार) पर अवलम्बित सभी प्रकार की राजनीति अपनी ही कृत्रिमता की निरर्थकता से निकटभविष्य में निश्चय समाप्त हो जायगी।

'युगवाणी' में कवि अपने मनश्चक्षुओं से आने वाले उज्ज्वल भविष्य को प्रत्यक्ष देख रहा है—

राजनीति औ' अर्थशास्त्र
होंगे सङ्घर्ष-परास्त ।
धर्म्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सबकी क्षीण पुकार ।

जीवन के स्वर में हो प्रकट महान्
फूटेगा जीवन रहस्य का गान।
क्षुधा, तृषा औ' स्पृहा, काम से ऊपर
जाति, वर्ण औ' देश, राष्ट्र से उठ कर,
जीवित स्वर में व्यापक जीवन गान
सद्य करेगा मानव का कल्याण।''

राजनीति मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति पर शासन करने के लिए है, किन्तु चारों ओर की परिस्थितियों से ही स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकी है।

मनुष्य में अवशिष्ट आदिम मानव की बर्बरता का उन्मूलन कर संस्कृति और कला के सहयोग से उसे सचेतन प्राणी बना देने के लिए राजनीति की आवश्यकता एक सीमित समय के लिए थी। यदि शुरू से ही उसे हम अस्थायी और परिहार्य्य मान कर चलते तो हमारे जीवन की प्रणाली कुछ और ही होती। राजनीति को अनिवार्य्य और स्थायी मान कर चलने के कारण ही हमारे जीवन की प्रणाली इतनी विकृत हो गई कि हमारा सामाजिक सौहार्द और स्वावलम्बन खो गया। हमारे स्वाभाविक पगों को जिसने पंगु बना दिया, आज उसी की गति-मति हमारी प्रगति बनी हुई है!

पशुता का शासन करते-करते जब राजनीति भी पाशविक हो जाती है तब मानवता की चेतना जगाने के लिए संस्कृति और कला का ही कर्त्तव्य गुरुतर हो जाता है, क्योंकि समाज : राजनीति के हाथों में इन्हीं की धरोहर है।

संस्कृति : मानव में पशु-प्रवृत्ति की परिष्कृति है, कला उसी की अभिव्यक्ति। यों कहें, संस्कृति प्राणिमात्र की अन्तःसंज्ञा है, कला उसी

का संज्ञापन। भौगोलिक स्थिति के अनुसार संस्कृति के आयतन (मजहब) और कला के प्रतीक अनेक हैं, किन्तु विविध आकारों में सबका निस्सीम हृदय एक है। कला के माध्यम से संस्कृति उसी हृदय को उद्गत करती है। कला के सहयोग से ही संस्कृति साम्प्रदायिकता से मुक्त हो जाती है। उसमें गुणग्राहकता आ जाती है।

संस्कृति और कला का ही अभिन्न नाम धर्म है, जैसे स्वर और उसकी रागिनी का नाम संगीत। जनता में धर्म्म की यही नवचेतना जगानी है। यह चेतना कलाकारों द्वारा ही जग सकती है, राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं।

इस युग में धर्म्म एक बदनाम वस्तु है, क्योंकि मजहबी संकीर्णताओं में ही सीमित हो जाने के कारण वह भी राजनीतिक संघर्ष का साधन बन गया है। किन्तु इस युग में भी धर्म्म को मानव-संस्कृति और कला को उसकी हार्दिक अभिव्यक्ति बना कर वे ही उसे जन-मन में स्थापित कर सकते हैं जो मध्ययुग के सूफियों, दरवेशों, बाउलों और वैष्णव कवियों की तरह राजनीति की अपेक्षा समाज के सम्पर्क में आयेंगे। वे ही धर्म्म के खोये हुए भाव-सत्य का उद्घाटन कर जनता का मर्म्मस्पर्श करेंगे।

किसी भी रूप में आज की विश्वव्यापी समस्या राजनीतिक नहीं है। 'ग्राम्या' में कवि युग-निर्देशक रता है—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सन्मुख,
अर्थसाम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।
व्यर्थ सकल इतिहासों, विज्ञानों का सागर मंथन,
वहाँ नहीं युग-लक्ष्मी, जीवन सुधा, इन्दु जनमोहन।
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्म्मित,

विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्ययुगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

सांस्कृतिक समस्या के रूप में प्रकृति : विकृति का प्रतिरोध कर रही है, उसने मनुष्य को कुछ रुक कर सोचने-विचारने के लिए अपनी ओर से गत्यवरोध उपस्थित कर दिया है। मनुष्य अपने अन्तर्बाह्य निर्म्माण (संस्कृति और कला) में पुनः प्रकृति-स्थ हो, यही तो इस युगसंहार में प्रकृति का सृजन-सङ्केत है। सचमुच, 'सांस्कृतिक प्रगति से रहित आज जनहित दुर्गम' हो गया है। राजनीति और उसका अर्थशास्त्र जीवन की स्वाभाविक प्रगति नहीं। प्रगति : यन्त्र, तन्त्र और निरर्थक अर्थ की दिशा में नहीं, हृदय की अन्तर्दिशा में होनी चाहिये। राजनीति का स्थान संस्कृति को, अर्थशास्त्र का स्थान कला को देना चाहिये।

राजनीतिक जागृति से अधिक आवश्यक है मनुष्य की अन्तःसंज्ञा जिसके बिना उसका सारा कार्य्यकलाप जीवन्मृत व्यापार हो गया है।

संस्कृति और कला का काम मनुष्य की उसी विलुप्त अन्तःसंज्ञा (अन्तश्चेतना) को पुनर्जीवित करना है।

सच तो यह कि मनुष्य को पुनः काव्य की मनोभूमि पर लाकर अनुप्राणित करना है। मनुष्य के हृदय की साँस कविता की ही साँस है, उसी से वह जीवित रहता है। किन्तु कट्टर राजनीतिज्ञ इस सत्य को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे नकली फेफड़ों से भी जीने का प्रयास करते हैं।

संस्कृति और कला : काव्य की ही प्राण-शिराएँ हैं। भाव इनका मर्म्म-स्पन्दन है।

कवि कहता है—'चाहिये विश्व को आज भाव का नवोन्मेष।'

भाव के द्वारा ही आज की सारी समस्याएँ भीतर से सुलझ सकती हैं। भाषा का ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन का सुलझाव भाव के संस्पर्श से ही

हो सकता है। हिन्दू-मुस्लिम एकता और हरिजनोद्धार भी इसके बिना सम्भव नहीं है। मनुष्येतर प्राणी भी जब कि भाव के वशीभूत हो जाते हैं, यथा, खग, मृग, मधुप, मरीचि के आश्रम में व्याघ्र भी; तब क्या बर्बर मनुष्य भाव के आगे प्रभाव-रहित रह सकेगा ?

आदेशों, उपदेशों, सिद्धान्तों और शासनसत्ताओं से मनुष्य का अन्तर्गति-रहित शरीर ही सञ्चालित किया जा सकता है, मन स्वतःचालित नहीं हो सकेगा। मनोगति को स्वावलम्बन देने के लिए मनुष्य को अनुभूतिशील, स्पन्दनशील, संवेदनशील प्राणी बनाना होगा। यह तभी सम्भव है जब उसमें भावोन्मेष किया जाय।

कवित्व के बिना कोई भी तत्व हृदय से अङ्गीकृत नहीं हो सकता, इस सत्य को कम्युनिस्टों ने समझा है। वे अपने जन नाट्यसंघों द्वारा जनता के बीच पहुँच गये हैं। किन्तु किसी भी कला को राजनीतिक प्रचार का ट्रैक्ट नहीं बनाना है।

वस्तु-प्रणव लोग कहते हैं—मनुष्य भूख-प्यास से मर रहा है, वह भाव को देखे या पेट को ? हृदय देखे या शरीर को ?

कवि कहेगा—जिस हृदय-हीन, भाव-हीन, स्पन्दन-हीन, संवेदन-हीन क्षुधा-काम के कारण मनुष्य वन्यपशुओं की तरह सङ्घर्ष करते-करते घोर अकाल-पीड़ित हो गया है, वह अपनी अन्तःसाधना के बिना सजीव कैसे हो सकेगा ! यदि वह इस समय किसी तरह बच भी जाय तो आगे इससे भी भीषण दुर्गति होगी। जीने के लिए यह संवेदन-हीन स्वार्थ-संघर्ष शव-भोज के लिए गृद्ध-युद्ध की तरह है। मनुष्य : मनुष्य होकर जी सके, इसी लिए उसमें संवेदन की, सहानुभूति की, मर्म्मस्पन्दन की आवश्यकता है।

अन्न-वस्त्र की मुखापेक्षी जनता उस ढोर की तरह है जिसे कोई भी राजनीतिक पार्टी आहार-विहार का प्रलोभन देकर अपने पीछे-पीछे हाँक ले जा सकती है। अतएव, उसके हृदय को जीतने के लिए, उसे अन्तःसुज्ञ

प्राणी बनाये रखने के लिए, अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त उसमें मर्म्मोद्रेक की भी आवश्यकता है। इसी लिए कृष्ण ने गोचारण ही नहीं किया, अपनी वंशी भी बजाई। कला-द्वारा उन्होंने चराचर को उस आत्मीयता के सुर में बाँध लिया जिससे कोई बिलग नहीं हो सका।

संस्कृति है हमारी गोमाता। हम जानते हैं कि संस्कृति को भी आहार-विहार चाहिये। किन्तु राजनीति और कृत्रिम अर्थशास्त्र से मनुष्य की तरह संस्कृति को भी जीवन नहीं मिल सकता, यह इस अकाल-युग से ही स्पष्ट है।

संस्कृति अपने ही स्वारस्य से सञ्जीव हो सकती है। उसका गोरस सबको जीवन देगा, उसकी प्रजाओं का पौरुष (कृषि) लोकोद्यम बनेगा, उसका सारल्य समाज को सौम्य बनायेगा। अतएव, सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए हमारे देश में सबसे पहिले गोरक्षा अनिवार्य्य धर्म्म है।

अपने बाह्य निर्म्माण के लिए हमारा देश ग्रामोद्योगों से अवगत हो चुका है, अब उसे आन्तरिक निर्म्माण के लिए संस्कृति और कला से भी प्राणान्वित करना है। यह काम कलाकरों का है। कलाकारों से हमारा अभिप्राय जीवन के अन्तःसुज्ञ शिल्पियों (छायावाद के साधकों) से है, वर्त्तमान स्थापित स्वार्थों से सम्बद्ध कला के व्यवसायियों से नहीं।

ऐसे समय में जब कि व्यक्तिगत, दलगत, राष्ट्रगत, सम्प्रदायगत क्षुद्र संघर्षों में जन-जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा है, हमारे अन्तःकरण के अधिष्ठाता कलाकारों का उत्तरदायित्व सर्वोपरि है। उन्हीं से अनुरोध है—

'मृगमरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिङ्गन।'

काशी
१९-९-४६

अन्तःसंस्थान

"तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले
काठ छेदने लगे सहसदल की नव पंखुड़ियाँ भूले
मन्द पवन सन्देश दे रहा हृदय-कली पथ हेर रही
उड़ो मधुप ! नन्दन की दिशि में ज्वालाएँ घर घेर रहीं।"

साहित्य-संगीत-कला के अधीश्वरो ! देखो, आज दिशा-दिशा में ज्वाला धधक रही है, तुम्हारी सृष्टि का नन्दनवन भस्मसात् हो रहा है। इस युगव्यापी दावाग्नि से विकल होकर खग, मृग, मधुप, व्याघ्र : कलकोमल-कराल वन्य-जीव ही नहीं, बल्कि पुच्छ विषाण-रहित मानव-तनुधारी द्विपद पशु भी दिग्भ्रमित हो रहे हैं; सब आपस में ही एक दूसरे को दलते-कुचलते क्रन्दन-कोलाहल करते इधर-उधर अव्यवस्थित गति से आश्रय की खोज में दौड़ रहे हैं।

शायद तुम भी उन्हीं में से एक हो, तुम भी युग की लपटों के भुक्तभोगी हो। किन्तु तुम्हारी साधना ऐसे ही आग्नेय युग में सत्य, शिव, सुन्दर की स्थापना के लिए है। तुम्हीं से यह आशा की जाती है कि अपनी गति-मति में प्रकृतिस्थ होकर सन्तप्त जगत को आश्वासन दो, दिग्भ्रमित विश्व को दिग्निर्देशन दो।

तुम एककण्ठ, एकस्वर होकर कहो—प्राणित्व का आश्रय प्राणियों के भीतर है। मनुष्य अपने इस अन्तःसंस्थान को भूल कर पशुओं की तरह लोभ-वश बाहर भटक रहा है। उसके लोभ की ही हिंस्र दृष्टि ज्वाला बन कर आज सारे अग-जग को जला रही है।

संस्कृति और कला के अग्रदूतो ! तुम अपने अन्तःसंस्थान में स्थितप्रज्ञ

होकर भटकती मानवता को सजग करो। ज्ञान-विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र के इस तुमुल कोलाहल में—

'यदि तोरे डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे

एकला चलो, एकला चलो एकला चलो रे !'

सृष्टि के अन्तःसुज्ञ शिल्पियो ! तुम्हारी मनोज्ञ रचना मिथ्या नहीं थी। तुमने 'अँसुअन जल सींचि-सींचि प्रेमबेलि बोई' थी। किन्तु शिव की तरह, रसमयी शिवानी मीरा की तरह तुम्हें ही वह विषपान भी कर लेना है जिसके उत्ताप से पृथ्वी का अमृत-रस सूख गया है, सृष्टि की शाद्वल शोभा मुरझा गई है, धरातल मरुस्थल हो गया है।

आज तुम्हें फिर जन-जन में, कण-कण में, तृण-तृण में अपने अन्तरद्रवण से वह भावामृत प्रवाहित करना है जिससे सृष्टि सुषमित-पुलकित हो उठे।

... ...

आज की स्थूल भूख-प्यास में भी जनता के भीतर भाव-धारा बहाते रहना है, अन्यथा, किसी तरह शरीर की रक्षा हो जाने पर भी हृदय तो शुष्क ही रह जायगा। शुष्क भूमि में चेतना का कोई अंकुर नहीं उग सकता। जीवन और साहित्य में हृदय को उर्व्वर बनाये रखने के लिए सबसे पहिले छायावाद के अन्तस्तारल्य की जरूरत है। यही तारल्य सूर, तुलसी भी लेकर चले थे।

इसी भावार्द्रता की दिशा में गान्धी और लेनिन के पूर्व रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव हुआ था। वे समय के बहुत पहिले आ गये थे, उनके लिए धरातल प्रस्तुत नहीं हो सका था, फलतः उनकी भाव-धारा आकाश-गङ्गा की तरह छायापथ में ही बहती रही। गान्धीवाद ने धरातल प्रस्तुत किया, किन्तु इस धरातल पर जिसे सबसे पहिले अवतरित करना था उसे वह केवल प्रणति देकर ही रह गया। उसने अपने चारों ओर कार्य्यकर्त्ताओं

का जमघट लगा दिया, फिर भी पृथ्वी सूखी पड़ी है। जीवन की सजल धारा के बिना भला पृथ्वी फलवती कैसे हो सकती है!

अब यह कविगुरु के कलापुत्रों का कर्त्तव्य है कि वे शिव की तरह आकाश-गङ्गा को पृथ्वी के लिए सुलभ कर दें, उसे जनपदों में लहरा दें।

जब तक प्राणी के जीवन में हास-अश्रु का अस्तित्त्व है तब तक उसके जीवन में भाव का, कवित्त्व का, कला का भी मर्म्म-स्थान है। इसके बिना कोई भी सार्वजनिक जागृति हार्दिक नहीं बन सकती।

जब तक भाव या कला के माध्यम से जनता का हृदय नहीं जगाया जायगा तब तक वह स्टेशनों और सभाओं में भीड़ लगा कर नेताओं की निर्जीव मूर्त्ति-पूजा करती रहेगी। इस तरह जनता अतृप्त और नेता खिन्नचित्त बने रहेंगे। जनता को कोसना व्यर्थ है। उसकी अतृप्ति तो हृदय की भूख (भावुकता) की माँग है जिसकी पूर्ति राजनीतिक नेताओं से नहीं हो सकती; वे तो 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' हैं।

दर्शनोत्सुक जनता अपनी भावुकता की तृप्ति चाहती है, किन्तु उसके देवता (कवि और कलाकार) नेताओं की ओट में ओझल पड़े हैं। जनता जिनके पैर छूती है उन्हें वह पा नहीं सकती और जिन्हें पाना है वे उसके ध्यान में नहीं हैं। स्थिति यह है कि जिन्हें साधना करनी चाहिये वे बिना साधना के ही सिद्ध की तरह पूजित हो रहे हैं और जिन साधकों की पूजा होनी चाहिये वे अन्तर्य्यामी की तरह विस्मृत-उपेक्षित हैं।

जन-मन में प्राणित्त्व का सञ्चार कोरे कार्य्यकर्त्ताओं द्वारा नहीं, जीवन के शिल्पियों (कवियों और कलाकारों) द्वारा होगा। कर्त्तृत्व तो मशीन में भी होता है किन्तु कवित्त्व (प्राणित्त्व) के बिना वह निस्पन्द है।

आवश्यकता यह है कि जनता के भीतर कार्य्यकर्त्ता ही नहीं, कलाकार भी बिखर जायँ। कार्य्यकर्त्ता कलाकारों के तत्त्वावधान में कार्य्य करें।

इससे उनके कर्त्तृत्व में वसे ही कवित्व उत्पन्न होगा जैसे कारुशिल्प में चारुशिल्प। यही होगा कर्म्मवीर गान्धी के साथ कविगुरु रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का समन्वय।

लेकिन मुश्किल यह है कि कार्य्यकर्त्ता कार्य्य करते हैं राजनीतिक व्यक्तियों की रूखी-सूखी डिक्टेटरी में। यदि वे जनता पर प्रभुत्व की स्थापना नहीं, बल्कि उसके साथ सख्य भाव स्थापित करना चाहते हैं तो उनका शिक्षण-शिविर राजनीतिक कैम्पों में नहीं, शान्तिनिकेतन और उदयशंकर के सांस्कृतिक कलाकेन्द्रों में है। पहिले स्वयंसेवकों के नेता इन कलाकेन्द्रों से शिक्षित हों, उनके द्वारा स्वयंसेवक, स्वयंसेवकों द्वारा जनता।

एक दिन गान्धी जी ने सबसे पहिले कविगुरु के शान्तिनिकेतन का आश्रय लिया था। आज कविगुरु की प्रजाओं (कलाकारों) को गान्धी जी का आश्रय चाहिये। यद्यपि कविगुरु के शान्तिनिकेतन को गान्धी जी का संरक्षण प्राप्त है तथापि सत्य तो यह है कि न तो कविगुरु शान्तिनिकेतन में थे और न गान्धी जी सेवाग्राम में हैं।

कविगुरु के देहावसन पर गान्धी जी ने एक अपील में कहा था—'उनका सबसे बड़ा स्मारक शान्तिनिकेतन है।' लेकिन यह कहना उस स्वर्गीय आत्मा को सीमित करना है। संस्थाएँ तो भंगुर स्थूल शरीर हैं, स्वयं गान्धी जी को साबरमती का आश्रम भंग कर देना पड़ा। यदि गान्धी-रवीन्द्र का जन-मन में स्थान नहीं बन सका तो संस्थाएँ निरर्थक हैं। अतएव, आश्रय से हमारा अभिप्राय कर्म्म के भीतर भाव के अवस्थान से है और भाव के भीतर कर्म्म के अनुष्ठान से। इसी प्रकार गान्धी और रवीन्द्र की अभिन्न परिणति भावात्मक कर्म्मयोग में होनी चाहिये। यह

तभी सम्भव है जब कि ग्रामोद्योगों के साथ-साथ मनोयोग (संस्कृति और कला) के केन्द्र भी सर्वत्र स्थापित हो जायँ।

इसी रूप में कृषि-युग और ऋषि-युग (कवीर्मनीषी युग) की सम्मिलित साधना साकार और सजीव हो सकती है। बाहर की साधना में कृषि, अन्तर की साधना में कवीर्मनीषीत्व। ऐसे ही संयोजन में कवि का भावलोक आश्रय पा सकता है, वाल्मीकि और कण्व के आश्रम में सीता और शकुन्तला के सरल तरल हृदय की तरह। इस युग के सार्वभौम आरण्यक कविगुरु रवीन्द्रनाथ का शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन के संयुक्त रूप में यही स्वप्न था।

... ...

आज कलाकार के सामने यह प्रश्न है कि वह कापालिक बने या कवि ?

कलाकार तो माता है, प्रमाता है। वह अपनी सृष्टि का भक्षण नहीं कर सकता, सृजन-सिञ्चन ही करेगा।

यदि कोई तामसिक शक्ति उसकी सृष्टि का भक्षण करना चाहेगी तो वह उसी का संहार करेगा, अपनी कृतियों का नहीं।

किन्तु कैसे ?–कापालिक होकर नहीं, जन-मन का परिष्कारक होकर। तामसिक शक्तियाँ जिस मनोभूमि में अपने नख-दन्त गड़ा कर उसके रस-शोषण से पुष्ट होती हैं उस मनोभूमि में कलाकार चेतना का प्रकाश फैला कर अन्धकार में पनपनेवाली प्रवृत्तियों को निराधार कर देगा। इस प्रकार वह अहिंसक संहारक बन जायगा। इस युग का कलाकार युगों के अनुभवों से क्या यह नहीं जान सकेगा कि रक्तबीजों को निर्जीव करने की अपेक्षा उनके लिए मिट्टी और खाद (मनोभूमिका) ही नहीं रहने दे।

...हम देखते हैं कि देश में अनेक कलाभवनों, संग्रहालयों, चित्रशालाओं और सांस्कृतिक केन्द्रों के होते हुए भी जन-मन का परिष्कार नहीं हो

सका। वे वैसे ही निष्फल हैं जैसे ये स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटियाँ। ये यान्त्रिक वस्तुओं के उत्पादन की तरह ही कला और शिक्षा के भी उत्पादन की फैक्टरियाँ बनी हुई हैं। इनका निर्म्माण उन्हीं के अनुरञ्जन और प्रभुत्व-प्रसारण के लिए है जो जनसमाज के शोषण पर ही अपना अस्तित्त्व बनाये हुए हैं। समग्र देश की सुख-श्री-सुषमा जिस तरह अर्थशक्ति के चरणों में ही न्योछावर होती रही है उसी तरह संस्कृति और कला भी उसी के प्रीत्यर्थ अपने को कृतार्थ करती रही। अर्थशक्ति जैसे अपने शस्त्रागार में सभी तरह के अस्त्र-शस्त्र रखती है वैसे ही उसने संस्कृति और कला को भी आश्रय दिया। जनता निर्धन और समाज संस्कृति-शून्य ही बना रहा।

यदि कलाभवनों, चित्रशालाओं और सांस्कृतिक केन्द्रों से जन-जन में प्राण-सञ्चरण नहीं हो सकता, यदि वे कुछ बुद्धिजीवियों की आजीविका के साधन और महत्ता के प्रदर्शनमात्र हैं तो उन्हें बन्द कर देना चाहिये। उन्हीं के साथ इन स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों को भी समाप्त कर देना चाहिये। आज के इस सारे ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का परिपाक श्मशान की ज्वालाओं पर ही हो रहा है। वह हमारी गार्हस्थिक संस्कृति का स्वारस्य नहीं बन सकता।

कोई हर्ज नहीं यदि जनता कोरे कागज की तरह निरक्षर रह जाय। उसके दुर्भाग्य की सारी आधुनिक लिपियाँ (प्रणालियाँ) मिट जायँ तो नये सिरे से उसके हृदय के चित्रपट पर उसकी प्राणशिराओं की रुचिर रेखाएँ खींची जा सकती हैं।

भारतीयता के उपासक नेता, कलाकार और सांस्कृतिक प्रेक्षक भी जन-समाज को अपना कोई मौलिक दान नहीं दे रहे हैं। वे या तो अस्तप्राय पश्चिमीय राजनीति और समाज का अनुकरण कर रहे हैं, या, भारत के

कलामय सांस्कृतिक जीवन को आंग्ल आयतन (म्यूजियमों) में ही उपस्थित कर रहे हैं। जहाँ जीवन का लक्ष्य केवल आर्थिक सुखोपभोग है वहाँ संस्कृति और कला का अनुराग म्यूजियमों, कलाभवनों और ड्राइंग-रूमों में फुरसत के समय का शौक मात्र रह गया है। हमें इसका अनुकरण नहीं करना है।

जिस युग में पाश्चात्य प्रदर्शन का प्रचलन नहीं था उस युग में भारत अखण्ड, समाज आन्तरिक (सांस्कृतिक) और गृह-गृह के प्राचीर कला-सुशोभित थे। चेतना कण-कण में ही नहीं, जन-जन में चन्द्र-सूर्य्य की किरण-द्युति की तरह रिल-मिल गई थी। भारतीय संस्कृति और कला के अनुरागियों द्वारा वह चेतना अब भी शेष है, किन्तु वह जन-समाज से विच्छिन्न होकर कुछ केन्द्रों में ही सीमित हो गई है।

... ...

सेवाग्राम और हमारे सांस्कृतिक कलाकेन्द्रों ने जनता से आदान ही लिया है, उसे वे अपना दान नहीं दे सके हैं। सेवाग्राम ने जनता से ग्रामोद्योगों और सांस्कृतिक विश्वासों को पाया, कलाकेन्द्रों ने उसकी लोक-कलाओं को। इतनी कलाओं और उद्योगों के बीच में भी जनता का जो जीवन अनगढ़ रह गया है उसे सुघड़ बना देना, यही उन संस्थाओं का मौलिक दान हो सकता है।

सेवाग्राम का प्रतिष्ठाता : जनता से स्वच्छता और अनुशासनवद्धता की अपील करता है, किन्तु जनता उसे हृदयङ्गम नहीं कर पाती। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह तो इन्द्रियों का दमन ही करता है, भावनाओं का सुसन्तुलन नहीं। जान पड़ता है कि सेवाग्राम के सन्त की कर्म्मेन्द्रिय ही सजग है, भावेन्द्रिय शून्य है। उसने अपनी कर्म्मेन्द्रिय के स्पर्श से ग्रामोद्योगों को जगा दिया, किन्तु भावेन्द्रिय के अभाव में मनोयोग को

स्पन्दित नहीं कर सका। भावशून्य कर्म्म प्राण-शक्ति-रहित श्वसन की तरह है।

सेवाग्राम का महात्मा आदेश की ही भाषा में उपदेश और सन्देश देता है, जनता का हृदयोन्मेष नहीं कर पाता। उसके कार्य्यकर्त्ता भी उसी के अनुरूप हैं—'यादृशी देवता तादृशं वाहनम्।'

गान्धी जी जनता से जिस अनुशासन की माँग करते हैं वह अनुशासन उन बालण्टियरों और सेना से निकले हुए कप्तानों द्वारा स्थापित नहीं हो सकता जिनका जीवन स्वयं ही अभी कोई सुविन्यस्त सामाजिक व्यक्तित्व नहीं पा सका है।

सच तो यह कि जनता को अनुशासन नहीं, स्पन्दन चाहिये; नागरिकता नहीं, पारिवारिकता चाहिये। एक बच्चे को अनुशासन द्वारा चुप किया जा सकता है, किन्तु उसके मन की विकलता को शान्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो व्यक्तित्व की मधुरता, सुन्दरता, तरलता या रसात्मकता चाहिये।

जनता कलाकारों द्वारा ही भीतर से प्राणान्वित हो सकती है। उन्हीं के निर्देशन में वह अपनापन पायेगी। वे उसके स्वामी होकर नहीं, सखा होकर उसे सहयोग देंगे, उसके मन से मन मिला कर उसका उन्नयन करेंगे।

कलाकार अब तक जनता से अलग एकान्त में बैठ कर अपनी रचना करते रहे हैं, अब उन्हें उस जन-संकुल समाज में प्रवेश करना चाहिये जहाँ उनकी सुरुचि के सञ्चार की आवश्यकता है।

काव्य, सङ्गीत, चित्र, शिल्प, अभिनय, ये सब सुनिर्म्मित जीवन की श्रेष्ठ अभिव्यक्तियाँ हैं, किन्तु जहां अभी जीवन का प्रारम्भिक निर्म्माण ही नहीं हो सका है वहाँ ये कलाएँ बिना जड़ के डाल-पात की तरह हैं। 'जो तू सींचे मूल को फूले-फले अघाय।' इन कलाओं के रहते हुए भी जिस

व्यावहारिक सुरुचि के अभाव में जनता का जीवन अनगढ़ है, सबसे पहिले उसी सुरुचि को जगाना है। उक्त कलाओं का उपभोग तो जनता स्वयं भी अपने ढंग से कर लेती है।

इस समय कलाकारों की सबसे बड़ी प्रतिभा इस बात में है कि वे ग्रामोद्योगों की तरह जनता में दैनिक सुरुचि भी उत्पन्न करने के लिए कोई रचनात्मक कार्य्यक्रम परिचालित करें।

... ...

आज की एक साधारण किन्तु असाधारण आवश्यकता है—जनसंस्कारिता, जिसके अभाव में जनता जिसकी लाठी उसकी भैंस बनी हुई है। जो जनता अभी अपनी मानवी संज्ञा ही नहीं पा सकी है उसके सामने शिक्षा, संस्कृति और कला के राग अलापना भैंस के आगे बीन बजाना है। पहिले उसके भीतर हम बोधवृत्ति उत्पन्न करें, इसके लिए उसे जीवन की वर्णमाला देनी चाहिये।

जन-संस्कारिता की दृष्टि से देखने पर सर्वसाधारण ही नहीं, बल्कि विशिष्ट जन-समाज भी जीवन के निम्न धरातल पर ही दीख पड़ता है। क्या निर्धन क्या सम्पन्न, क्या शिक्षित क्या अशिक्षित, क्या आदर्शवादी क्या यथार्थवादी, सब एक ही सतह पर हैं; सबके जीवन की दैनिक प्रणाली एक-सी ही दूषित, कुत्सित, असंस्कृत है। सिर्फ रोजी कमाने के ढंग अलग-अलग हैं।

प्रातःकाल शय्या से उठने पर मनुष्य का मुख जैसा घिनौना दीख पड़ता है, उसका दैनन्दिन जीवन भी वैसा ही फूहड़ लगता है। वह अपने को सजाता-सँवारता है, किन्तु संस्कारिता के अभाव में अपने स्वभाव को सुघर नहीं बना पाता। उसके स्वभाव की विकृतियाँ पथ पर चारों ओर अस्वच्छता होकर फैली हुई हैं। पशुओं की तरह ही उसमें शौचाशौच का विवेक नहीं रह गया है। जहाँ चाहता है वहीं थूक देता है। जहाँ चाहता

है वहीं मल-मूत्र का विसर्जन कर देता है। सोचता है, वह अपनी गन्दगी फेंक कर उसके परिणाम से मुक्त हो गया। दूसरे लोगों को उसकी अस्वच्छता भोगनी पड़े तो इसमें उसे क्या चिन्ता। वह सामाजिक उत्तरदायित्व को अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता, इतना स्वार्थ-संकीर्ण हो गया है मनुष्य। वह भूल जाता है कि उसी की गन्दगी राह में फिर उसी के हाथ-पाँव में लग सकती है, अथवा जैसे उसकी गन्दगी दूसरों को दूषित कर सकती है वैसे ही दूसरों की गन्दगी उसे भी। अतएव, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व ही सामाजिक उत्तरदायित्व बन सकता है। मनुष्य दायित्वपूर्ण हो जाय तो उसकी बहुत सी विकृतियाँ, विपत्तियाँ अनायास दूर हो जायँ। जीवन के सभी क्षेत्रों में दायित्व के अभाव के कारण ही मनुष्य : सामाजिकता-रहित सामाजिक पशु बन गया है।

आश्चर्य है कि जो मनुष्य अपने वस्त्रों, आभूषणों, इमारतों की सुन्दरता में सचेष्ट है वह अपनी आदतों में इतनी कुरूपता कैसे बरदाश्त कर लेता है! वह भीतर से निर्जीव, बाहर से प्रदर्शन-प्रिय रह गया है।

आज संस्कृति और कला का परिचय केवल शब्दों में ही मिलता है, जीवन में तो विकृति और कुरुचि ही दीख पड़ती है। वस्तुतः संस्कृति और कला है क्या? वह लोकोत्तर चिन्तन मात्र है अथवा उसका हमारे दैनिक जीवन से भी कोई सम्बन्ध है?

वस्तु में, व्यवस्था में, स्वभाव में, व्यवहार में, आहार में, विहार में, जो सुरुचि है वही है सुन्दरता, वही है प्राणी में प्राणित्व की चेतना, उसी की अभिव्यक्ति है कला, उसी की परिणति है संस्कृति। चेतना में, कला में, संस्कृति में जो कुछ जीवन के विकास के लिए अनिवार्य्य है उसी का धारण है धर्म्म।

संस्कृति और कला की वर्णमाला जीवन की छोटी-छोटी बातों में है।

बड़ी-बड़ी बातें इन्हीं की लड़ी हैं। छोटे-छोटे क्षणों से पूरी आयु, छोटी-छोटी आदतों से पूरी जिन्दगी, एक-एक व्यक्ति से पूरा समाज बनता है।

यदि हमारे थूकने-खखारने में भी भोंड़ापन है, ठाँव-कुठाँव की पहिचान नहीं है तो हम अभी संस्कृति और कला के ककहरा तक भी नहीं पहुँच सके हैं।

हमारे प्रतिदिन की छोटी-मोटी बातें—खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, उठना-बैठना, थूकना-खखारना, चलना-फिरना, हिलना-मिलना, बात-बर्त्ताव, अपनाव-दुराव, सेवा-सत्कार, साज-सँवार, इत्यादि ये ही जीवन की वर्णमाला हैं।

वर्णमाला प्रारम्भ कराने के लिए जैसे बच्चों के हाथों में सचित्र बाल-बोध दिया जाता है वैसे ही जनता को कुछ दृश्य-पाठ दिया जाना चाहिये। सजीव दृश्य-पाठ तो आचरण का प्रत्यक्ष दृष्टान्त ही हो सकता है, इसके बाद लैन्टर्न-लेक्चर और फिल्मचित्र। फिल्मचित्रों में जैसे समाचारों की तसबीरें रहती हैं, वैसे ही दैनिक आचारों की तसबीरें भी दिखलाई जानी चाहिये।

दृश्य-पाठ द्वारा जनता बिना किसी ऊपरी दबाव (शासन-अनुशासन) के अपने भीतर से उद्भिद् (उद्भावनाशील) हो उठेगी।

प्रारम्भिक संस्कारों की वर्णमाला ही अपनी समन्विति से जीवन की शैली बनायेगी। यदि एक नन्हीं-सी-नन्हीं आदत में भी सुरुचि का समावेश हो जायगा तो वही हमारे सभी कार्य्यों में शैली बन कर ढल जायगी। सुरुचिपूर्वक एक नित्यकृत्य की साधना सभी सुकृत्यों की साधना का मूल है।

कला केवल गान, वाद्य, नृत्य, चित्र, काव्य में नहीं; बल्कि हमारे जीवन के प्रत्येक पग में है। इसके बिना हमारी जिन्दगी की रफ्तार एक

गतिहीन गतिशीलता है। गति तो अन्धड़ में भी होती है। जीवन के पथ में लोग अन्धड़ की तरह ही अन्धगति से अन्धाधुन्ध एक दूसरे से टकराते, मुठभेड़ करते, भेड़ियाधसान चाल से चल रहे हैं। क्या यही हमारी नागरिकता और सामाजिकता है !

ध्यान से देखें तो जान पड़ेगा कि हमें दिन-प्रतिदिन की कितनी ही मामूली बातों में जन-संस्कारिता की समस्या हल करनी है। इसी के लिए संस्कृति और कला को 'जन-मन-मञ्जु-मुकुर-मल-हरनी' बन जाना है।

कविगुरु के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'कला को हम कैसे अपने जीवन में ला सकते हैं', तब उन्होंने उत्तर दिया—'अपने घरों के भीतर प्रतिदिन की कलापूर्ण दिनचर्य्या से।'

जीवन की वर्णमाला का सम्बन्ध इसी दिनचर्य्या से है। जीवन की वर्णमाला के बिना साक्षरता से लेकर विश्वविद्यालयों तक की शिक्षा-दीक्षा व्यर्थ है।

नाना तरीकों से उदरम्भरि पशु बन कर जनता को केवल खाने-कमाने का ही अभ्यास नहीं करना है, बल्कि खाना-कमाना जिस जीने के लिए है उस जीने की कला भी सीखनी है। यह धन द्वारा नहीं, मन द्वारा पाई जानेवाली शिक्षा है।

हमें युद्धोत्तर भारत का केवल आर्थिक ढाँचा नहीं ठीक करना है, बल्कि मानसिक ढाँचा भी ठीक करना है। जैसे राजकाज के लिए जनता के बीच कार्य्यकर्त्ता हैं वैसे ही मन के साज-समाज के लिए जनजीवन के शिल्पी भी वहाँ हों।

हमारे यहाँ हरिजनोद्धार का प्रयत्न चल रहा है। सच पूछिये तो सामाजिक संस्कारिता के अभाव में वे सभी लोग हरिजन हैं जिनका

स्वभाव गन्दी आदतों से भरा हुआ है। इन सभी हरिजनों के उद्धार के लिए संस्कृति और कला की पुकार है।

जन-साधारण में स्वच्छता, सुघरता, शालीनता, पावनता का मर्म्मोद्रेक करना धर्म्म का, विशेषतः सनातन धर्म्म का कर्त्तव्य है, क्योंकि उसी में शौच-अशौच, सद्-असद्, सुन्दर-असुन्दर का विवेक इतना जाग्रत है कि वह प्रक्षालन, आचमन, अभिमन्त्रण से न केवल वातावरण को बल्कि कलेवर को भी शुद्ध कर देता है। उसके अनुयायियों का धर्म्माचरण यदि परलोक सुधारने में ही नहीं, इहलोक सुधारने में भी संलग्न हो जाय तो कलाकारों का कार्य्य-भार बहुत कुछ हलका हो सकता है। तीर्थलाभ के लिए गङ्गास्नान कर लेने और सीढ़ियों पर गन्दगी कर देने से न लोक सुधरता है, न परलोक। जो सनातन हिन्दू समाज तुलसीदास के मन्दिर का छोटा-सा जनपथ भी पवित्र नहीं रख सकता, राह की दोनों तरफ लघुशङ्का करके अपनी कुरुचि की छाप छोड़ता है, वह धार्म्मिक नहीं, आत्मप्रवञ्चक है।

... ...

जन-साधारण के जीवन को रच देने के लिए देश में एक बृहत् सांस्कृतिक मण्डल की आवश्यकता है। इस मण्डल द्वारा कलाकारों की बिखरी हुई शक्तियों (विभिन्न मण्डलियों) का केन्द्रीकरण होना चाहिये। कलाकारों के संघटन को 'वादों' के प्रचार में सीमित नहीं होना है, बल्कि सभी 'वादियों' को कला के निजी ध्येय (जन-संस्कार) के लिए 'एक' होना है। कांग्रेस जैसे अपनी विविध शाखाओं द्वारा एक लक्ष्य की ओर बढ़ रही है वैसे ही कला और संस्कृति की विविध मण्डलियाँ केन्द्रित होकर एक उद्देश्य की ओर बढ़ें। नगर-नगर में, गाँव-गाँव में उनकी शाखाएँ खुलें। केन्द्र से कार्य्यक्रम निर्द्धारित किये जायँ और उन्हें उसी लगन से

कार्य्यान्वित किया जाय जिस लगन से खादी-प्रचार, ग्रामोद्योग और हरिजनोद्धार किया जाता है। सेवाग्राम के संरक्षण में जिस प्रकार ग्रामीण कार्य्यकर्ता शिक्षित किये गये हैं उसी प्रकार केन्द्रीय सांस्कृतिक मण्डल के तत्त्वावधान में कला-जगत के कार्य्यकर्त्ताओं को भी दीक्षित किया जाय।

सप्ताह में एक दिन सभी शिक्षासंस्थाओं के छात्र-छात्राओं को एकत्र कर सबसे पहिले उन्हें ही जन-संस्कारिता की दीक्षा देनी चाहिये। उनके द्वारा अपनाया हुआ संस्कार परिवार में, परिवार द्वारा समाज में फैलेगा।

यहीं हमें एक आवश्यक क्षेत्र को भी हस्तगत कर लेना है। हमारा संकेत 'स्काउटिङ्ग' की ओर है। इसका अस्तित्व जीवन की वर्णमाला सीख कर जन-समाज को व्यावहारिक लाभ पहुँचाने के लिए है किन्तु खेद है कि यह भी निर्जीव, कृत्रिम और प्रदर्शन मात्र रह गया है। यदि कलाकारों द्वारा इसका कायाकल्प कर दिया जाय तो हमारे बहुत-से गुरुतर कार्य्य सरल हो जायँ। इसके द्वारा संस्कृति और कला का कर्म्म-क्षेत्र परिष्कृत और प्रशस्त हो सकता है।

साक्षरता-प्रचार और स्वास्थ्य-सप्ताह की तरह एक देशव्यापी सुरुचि के आन्दोलन की जरूरत है। कलाजगत के कार्य्यकर्त्ताओं की टोली एक विशेष कार्य्यक्रम बना कर मुहल्ले-मुहल्ले प्रभातफेरियों की तरह भ्रमण करे और जनता के दैनिक जीवन में सुरुचि का संस्कार जगाये।

इस कर्म्म-विशृंखल अव्यवस्थित युग में जनहित के किसी भी कार्य्य में कलाकार को संकोच नहीं होना चाहिये। उसे कृषक भी बनना है, बुनकर भी बनना है, मजदूर भी बनना है और आवश्यकता पड़ने पर भंगी भी। इन सभी शुष्क रूक्ष कर्म्मों में कलाकार के अन्तस्तारल्य के सञ्चार से चारुता और स्निग्धता आ जायगी। कर्म्मक्षेत्र में भी कला की वही पारस-दृष्टि (सौन्दर्य्य-दृष्टि) सजग रहनी चाहिये, जिसकी 'अन्तर-चितवन' से मरु भी नन्दनवन बन जाता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि कर्म्म में व्यावसायिक वुद्धि न हो। जहाँ व्यवसाय समाप्त हो जाता है वहीं कला के सौन्दर्य्य का प्रादुर्भाव होता है। किसी रचना में कलाकार का जो स्वान्तःसुख निहित रहता है वही जन-हित के कार्य्यों में भी सन्निहित रहना चाहिये। तभी वह कार्य्य को भार-रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन-सम्भार के रूप में सुसम्पन्न कर सकेगा। कर्म्म का यही सौन्दर्य्यानुराग जनता में भी उत्पन्न करना है। यदि हम उसमें सौन्दर्य-वोध जगा दें तो वह अपने कार्य्यों में रस लेने लगेगी। जिसमें रस लेगी उसमें केवल समय ही नहीं, हृदय भी देगी। अभी तो कर्म्म उसके लिए केवल पैसे का साधन मात्र है, आनन्द का प्रसाधन नहीं। अर्थलोभ से किये हुए काम में कर्म्म का कौशल नहीं व्यक्त होता। जब तक कर्म्मचारियों में कर्म्म का सौन्दर्य्यानुराग नहीं उत्पन्न होगा तब तक हड़तालों द्वारा कुबेर का ऐश्वर्य्य मिल जाने पर भी जीवन कुरूप ही बना रहेगा। व्यावसायिक वुद्धि के कारण कर्म्म : इन्द्रियों के निश्चेष्ट प्रयास मात्र रह गये हैं। कर्म्म में सजीवता और सुन्दरता का समावेश करने के लिए सभी सार्वजनिक कर्म्मचारियों को कलाकारों का निर्देशन प्राप्त करना चाहिये।

इस अर्थ-प्रधान युग में सभी व्यावसायिक कर्म्मियों की चित्तवृत्ति विकृत हो गई है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र या किसी भी पेशे में हों। हम तो कहेंगे, सुरुचिपूर्वक यदि नाई, धोबी, मोची, भंगी, कहाँर भी अपना कार्य्य सुसम्पादित कर सके तो वह कलाकार है, अन्यथा बड़ा से बड़ा पदाधिकारी भी कदाचार है।

शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, आवागमन की दिशा में केवल वैतनिक वुद्धि (व्यावसायिक वुद्धि) से काम करनेवाले कर्म्मचारियों पर निर्भर न रह कर यदि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड और बड़े-बड़े नगरों के कारपोरेशन

कलाकारों का निरीक्षण प्राप्त कर सकें तो उनका उद्‌देश्य सफल हो जाय। जनता में सुरुचि का अभाव वहुत कुछ इन संस्थाओं की दुर्व्यवस्था के कारण भी है।

... ...

साहित्य, संस्कृति और कला के लिए सरकारों का भी कुछ कर्त्तव्य है। प्रान्तीय सरकारें प्रान्तीय परिधि में और केन्द्रीय सरकार अखिल भारतीय रूप में साहित्यिकों और कलाकारों का संघ स्थापित कर सकती है। इस संघ का माध्यम राष्ट्रभाषा हिन्दी हो।

प्रारम्भ में प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने प्रान्तों के साहित्यिकों और कलाकारों का संघ संयोजित करें। केन्द्रीय सरकार उन्हीं में से अखिल भारतीय प्रतिनिधियों का चुनाव कर ले। इन संघटनों के अध्यक्ष और मंत्री साहित्य और कला के स्वतन्त्र उपासक ही हों, कोई सरकारी अधिकारी नहीं।

साहित्य और कला के इन संघटनों में एकत्र होकर साहित्यकार एवं कलाकार केवल अपने-अपने विषयों का अनुशीलन ही नहीं, बल्कि जन-साधारण में जाकर उसकी सांस्कृतिक उन्नति के लिए व्यावहारिक कार्य्य भी करें। इसके लिए उन्हें आवश्यक आर्थिक सहयोग मिलना चाहिये तथा सार्वजनिक कर्म्मचारियों द्वारा उत्पन्न व्यवधानों को दूर करना चाहिये।

यहाँ यह ध्यान रखना है कि कलाकारों को सरकारी सहयोग पर ही निर्भर नहीं हो जाना है। जनता के रचयिताओं को तो अपनी साधना का ही सम्बल लेकर चलना होगा। सूर, तुलसी, मीरा ने बिना किसी राजकीय सहयोग के ही जन-मन का उन्नयन किया था।

राजसत्ताएँ एक-एक कर टूटती चली गईं, उन्हीं के साथ उनके द्वारा संरक्षित कवि और कलाकार भी समाप्त हो गये; किन्तु वैष्णव साधकों द्वारा

निर्म्मित जनता असंख्य प्रहारों में भी जीवित चली आ रही है, उसीके साथ उसके अन्तःकरण के वे अधिष्ठाता भी जीवित हैं।

आज तो अधिकांश साहित्यकार और कलाकार राजनीतिक 'वादों' की बौद्धिक गुलामी कर रहे हैं। जिनकी चेतना स्वयं मानसिक दासता से ग्रस्त है वे भला जनता को स्वतन्त्र प्रेरणा कैसे दे सकते हैं!

साहित्यकार तथा कलाकार यदि राजनीति और अर्थशास्त्र से तटस्थ होकर स्वाभाविक मानव-जीवन की दृष्टि से सोचें तो राष्ट्र के चिन्तन का प्रवाह ही बदल जाय। वे अपनी कृतियों में जो मानसिक प्रेरणाएँ देंगे, राजनीति और अर्थशास्त्र उनका व्यतिक्रम नहीं कर सकता। कालान्तर में उन्हीं का दृष्टिकोण जनता का, नेताओं का, सरकार का भी दृष्टिकोण बन जायगा। उनके विचारों की व्यापकता देख कर शासन-तन्त्र स्वयं उनके सन्मुख प्रणत और प्रार्थी होगा।

व्यक्तित्व की विकासशीलता की आशा हम कलाकारों से ही कर सकते हैं, येन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले अवसरवादियों से नहीं। दुनियादारों और कलाकारों में बड़ा अन्तर है। कलाकार स्रष्टा है, विधाता है, स्वयंरुह है; क्षुद्र स्वार्थों के लिए उसे आत्मविस्मृत नहीं हो जाना है।

युग के बड़े-से-बड़े व्यक्ति को स्नेह-समादर देकर भी कलाकार की चेतना किसी व्यक्ति में ही सीमित नहीं हो जानी चाहिये, अन्यथा, मानसिक बौनेपन से सृष्टि का मौलिक विकास अवरुद्ध हो जायगा।

कलाकार चिरमहान है। अपने समय के शासकों और राजनीतिज्ञों के बाद भी उसीका गौरव अक्षुण्ण रहेगा। 'पथेरदावी' का अप्रतिम क्रान्तिकारी सव्यसाची भी कवि से कहता है—

"तुम देश के एक महान कलाकार हो, इस बात को कभी मत भूलना कि राजनीति से तुम बड़े हो।'.....

"'तुम्हारा परिचय ही तो जाति का सच्चा परिचय है। तुम लोगों को छोड़ देने से उसका वजन किस चीज से किया जायगा! आखिर किसी न किसी दिन इस देश की स्वाधीनता-पराधीनता का समाधान तो हो ही जायगा,—इस देश के दुःखदारिद्रय की कहानी को उस दिन एक जनश्रुति से अधिक मूल्य नहीं मिलेगा, परन्तु तुम्हारे काम का मूल्य कौन आँक सकेगा! तुम्हीं तो देश की समस्त विच्छिन्न विक्षिप्त धाराओं को एकसूत्र की तरह एकत्र गूँथ जाओगे।"

जिस कलाकार पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व है उसे सहयोग देना राजनीतिक व्यक्तियों को थैलियाँ भेंट करने की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

देश में राजनीतिक संस्थाएँ पर्याप्त हो चुकीं। यदि वैभवशालियों में क्षणिक ख्याति की नहीं, बल्कि समाज का स्थायी कल्याण कर जनसेवा का आन्तरिक आनन्द उपलब्ध करने की शुभाकांक्षा हो तो उन्हें भावी भारत के रचयिता कलाकारों को सहयोग देकर अपने वैभव को सार्थक कर लेना चाहिये। आज वे जिस वैभव के अम्बार पर बैठे हुए हैं कल क्रान्ति के भूकम्प से वह धरती के नीचे धसक जायगा। यह निश्चित है कि दो दिन आगे-पीछे सारे देश की सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण हो जायगा। उस दिन आज के ये वैभवशाली धन की दृष्टि से ही नहीं, हृदय की दृष्टि से भी दरिद्र न रह जायँ। उन्हें सत्कार्यों में योग देकर आनेवाले युग में अपने ऐश्वर्य्य का, सहृदयता का सुस्थिर चिह्न छोड़ जाना चाहिये। अभी तो वे अपार धनराशि के होते हुए भी जीवन के सौन्दर्य्य से अपरिचित हैं और अपनी अज्ञानतावश जनसाधारण को भी जीवन के आनन्द से वञ्चित किये हुए हैं।

... ...

यह युग कवियों और कलाकरों से एषणाओं का बलिदान चाहता है। उन्हें सस्ती कीर्त्ति और आत्मप्रदर्शन का लोभ छोड़ कर जनपदों में जाना

चाहिये। साहित्यिकों और कलाकारों का रिक्त कार्य्यक्षेत्र जनपदों में है। जैसे बिना ग्रामोन्नति के नागरिकता निराधार है, वैसे ही जनपदों के जागरण के बिना ये कवि-सम्मेलन, कला-प्रदर्शनी, साहित्यिक गोष्ठियाँ और नाना परिषदें निरर्थक हैं; ये ग्रामीणों के शोषण पर पनपनेवाले कतिपय बुद्धि-जीवियों के ही कृत्रिम मनोरञ्जक स्थल हैं।

कलाकारों को तो प्रकृति के उन्हीं प्राकृत प्रान्तरों में प्रवेश करना है, जहाँ—

"स्वर्णाश्चला अहा! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती आती है गाय कुचलती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में बैठ कृषक गाते—कहँ अटके बनवारी?
वनतुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घण्टा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है।
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
भैया, लिख दे एक कलम खत मो बालम के योग,
चारों कोने खेम कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग!"

यहीं है हमारा वह देश जिस पर मुग्ध होकर सव्यसाची कहता है—"सहस्र नद-नदी-प्रवाहित हमारा भारतवर्ष, हमारी सुजला सुफला शस्य-श्यामला खेतों से हरी-भरी मातृभूमि, जिसमें झूठे रोगों का दुःख नहीं, झूठे दुर्भिक्ष की भूख नहीं, विदेशी शासन के दुस्सह अपमान की ज्वाला नहीं, मनुष्यत्व की हीनता का लाञ्छन नहीं।"

प्राकृतिक जीवन के इसी वातावरण को हमें प्राणान्वित करना है। आज

जनपदों के जनगण आत्मबल के अभाव में निर्बल और विवेक के अभाव में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हैं। उन्हीं को उद्‌बुद्ध और प्रबुद्ध कर देने के लिए कवियों और कलाकारों के प्रति कविगुरु का यह सन्देश है—

एई सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हबे भाषा,
एई सब श्रान्त शुष्क भग्न बूके
ध्वनिया तूलिते हवे आशा।

'ग्राम्या' का कवि भी कहता है—

इनमें विश्वास अगाध, अटल,
इनको चाहिये प्रकाश नवल,
भर सके नया जो इनमें बल!

जनपदों में अब भी जीवन के वे सभी उपादान अपने स्वाभाविक रूप में वर्त्तमान हैं जिन्हें संस्कृति और कला के स्पर्शमात्र से सजीव किया जा सकता है। वहाँ आवश्यकता प्रचार की नहीं, सञ्चार की है। इसी के लिए जनता को उद्भिज्ज कर देना है, ताकि उसके भीतर से उसी का हृदय स्वतःअंकुरित पल्लवित-पुष्पित हो उठे।

कवियों और कलाकारों को जन-मन का वनमाली बन जाना है। काव्य में रसोद्रेक की तरह वे ही जन-मन का मर्मोद्रेक भी कर सकते हैं। वे उसे सींचें, सँवारें और जब तक जनता बौद्धिक दृष्टि से स्वावलम्बिनी नहीं हो जाती, राजनीतिक खुरापातों से उसकी रक्षा भी करें।

कलाकारों का कर्त्तव्य दुहरा है: जनता के प्रति और सरकार के प्रति। जनता में आत्मविश्वास और आत्मनिरीक्षण उत्पन्न कर उसे ऐसा अन्तःसुज्ञ बना देना है कि वह अपना नेतृत्व आप कर सके, और जब तक वह इस

योग्य नहीं हो जाती उसके श्रम का समुचित संरक्षण करने के लिए सरकार को उसकी आवाज सुनानी है, आवश्यकता पड़ने पर आग्रह (सत्याग्रह) भी करना है।

जनपदों में बिना किसी संस्था के भी काम किया जा सकता है। संस्थाओं के लिए तो धन चाहिये और धन से चलने वाली संस्थाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वार्थों का गुट बन जाता है। हमें संस्था नहीं, अन्तः-संस्थान चाहिये।

जनपदों में काम करने के लिए धन से अधिक मन और लगन की जरूरत है। वहाँ का उद्यम और विवेक स्वयं धन बन जायगा। साहित्यकार और कलाकार यदि ग्राम्यगृहस्थों के कौटुम्बिक बन कर उनके जीवन में समा जायँ, वहाँ सस्यारोपण भी करें और संस्कारारोपण भी, तो उनका जीवन निरवलम्ब नहीं होने पायेगा।

संस्था-रहित निःसङ्ग रमतायोगियों की तरह ही गाँव-गाँव, घर-घर घूम-घूम कर जन-चेतना जगानी है, कृषकों के श्रम में सहयोग देना है, उनके सुख-दुख में समभागी होना है।

इस तरह गाँव-गाँव में बिखरे हुए सांस्कृतिक कलाकार पर्वों, त्यौहारों, देहाती पैठों और मेलों में एकत्र होकर परस्पर परिचय और विचार-विनिमय कर सकते हैं। इन समागमों में एकत्र जनता को भी अपनी प्रेरणाएँ दे सकते हैं।

जनपदों में उन्हीं साहित्यिकों और कलाकारों को जाना चाहिये जिनका किसी राजनीतिक पार्टी से सम्बन्ध न हो। राजनीतिक पार्टियों के प्रवेश से तो जनपदों की अवशिष्ट प्राकृतिक भूमि भी कृत्रिम हो जायगी।

सदा की तरह भविष्य में भी जनता के भीतर धार्मिकों और कलाकारों को स्थान मिलेगा, क्योंकि वह संस्कृति और कला में रस लेती है। संस्कृति और कला उसके प्राणों के इतने निकट हैं जितने अन्न-जल।

क्रान्तिकारी सव्यसाची ठीक कहता है—"स्वाधीनता ही स्वाधीनता का अन्त नहीं है। धर्म्म, शान्ति, काव्य और भी बड़े हैं। इनके चरम विकास के लिए ही स्वाधीनता चाहिये, नहीं तो उसका मूल्य ही क्या है!"

यदि संस्कृति और कला का ही अभिन्न नाम धर्म्म है तो भविष्य में भी धर्म्म की स्थापना कवियों और कलाकारों द्वारा ही होगी।

आज धर्म्म जिस रूप में मन्दिरों, मसजिदों और गिरजाघरों में स्थापित है उस रूप में वह एक दैवी शासक मात्र रह गया है, जन-मन से निःसृत उसी के आत्मानन्द का रसोद्भावक नहीं।

धर्म्म किसी दैवी आतङ्क से संस्कृति का अन्तःस्पन्दन नहीं जगा सकता। संस्कृति को मर्म्मस्पन्दन कला द्वारा ही मिल सकता है।

शिल्पी ने एक भग्न मन्दिर के ध्वस्त मस्तक पर मयूर को बिठा कर इङ्गित किया है कि जब धर्म्म जड़ता के भार से निष्प्राण हो जाता है तब उसकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए कला का ही अवतरण होता है। कला का अस्तित्व संस्कारिता और मनोहरता के लिए है। वह सत्यम्-शिवम् को सुन्दरम् में लय कर उसे हृदय की तरह ही स्निग्ध, सरस, मधुर, प्राञ्जल बना देती है, प्राणियों के अन्तःस्वारस्य से समरस कर देती है, प्रज्ञा और प्राणित्व में सामञ्जस्य स्थापित करती है।

आज कला-बोध के अभाव में ही जनता धर्म्म की धारणा-शक्ति खो बैठी है।

कोई भी धर्म्म उपदेशकों, भजनीकों, मिशनरियों और प्रचारकों द्वारा अन्तःकरण से अङ्गीकृत नहीं हो सकता। धर्म्म को जब कवियों और कलाकारों का हृदय-योग, भाव-योग, प्राण-योग मिलता है तभी वह जन-मन में उसी तरह बस जाता है जैसे सलिल, सौरभ, सौन्दर्य्य। वैष्णव धर्म्म आज भी इतना मनोज्ञ इसलिए है कि उसमें सूर, तुलसी, मीरा का हृदय-योग है।

इस युग में भी कवियों और कलाकारों को ही धर्म्म के लाक्षणिक तत्त्व (भाव-सत्य) का मर्मोद्धाटन कर उसे जन-मन में स्थापित करना है। इस तरह धार्म्मिकों का स्थान भी उन्हें ही ले लेना है।

यह युग किसानों और कलाकारों का सम्मिलन चाहता है। उनके सम्मिलन से एक स्वाभाविक सञ्जीवनी शक्ति प्रादुर्भूत हो सकती है।

राजनीति की सङ्कीर्ण सीमा से मुक्त और असीम मानव-हृदय की तरह विस्तीर्ण संस्कृति और कला की स्वतन्त्र शक्ति लेकर कवि और कलाकार उठ खड़े हों तो जन-जीवन में नव्यतम परिवर्त्तन हो जाय।

स्वर्गीय कलाविद् अरण्डेल महोदय ने एक प्रवचन में कलाकारों को उद्बोधित करते हुए कहा था—

"आज वे अग्रणी कलाकार कहाँ हैं जो भारत को वर्त्तमान निद्रा से उठा कर आगे बढ़ावें? संसार के आकाश को ढँकनेवाले अन्धकार के बादलों के आस-पास अनुपम ध्वनि, रङ्ग और आकृति का प्रकाश फैलानेवाले भविष्यवक्ता कलाकार कहाँ हैं? आज कितना भी घोर अन्धकार क्यों न हो, किन्तु प्रकाश विश्व का अनिवार्य्य भविष्य है। क्या प्रत्येक कलाकार अपने विशिष्ट और अनुपम वरदान का उपयोग उज्ज्वल भविष्य के निर्म्माण में करेगा?

मैं तो उस समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब भारत का प्रत्येक सच्चा कलाकार (चाहे वह चित्रकार हो, मूर्त्तिकार हो, सङ्गीतकार हो, नृत्यकार हो या कवि हो) देश के कोटि-कोटि नर-नारियों को जागृति और स्वाधीनता का सन्देश देगा। जागृति के इस शङ्खनाद की ध्वनि का जन्म भारतीय स्वाधीनता के नेताओं की अपेक्षा कलाकारों द्वारा होना अधिक आवश्यक है। केवल कलाकार की पुकार पर ही जनता आगे बढ़ेगी। जब जनता की भावनाओं को कलात्मक सौन्दर्य्य से उत्प्रेरित किया जायगा तभी भारत माता अपने सुनिश्चित मार्ग से चलने लगेगी।

कलाकार की आवाज अवश्य सुनी जायगी क्योंकि वह जनता के मस्तिष्क का नहीं, हृदय का प्रतिनिधित्व करता है। उसके द्वारा जनता का हृदय ही बोलता है और जब हृदय बोलता है तो उसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता।

भारत के कलाकार भारत की जनता को पुकारें तो उसकी समस्याएँ शीघ्र ही हल हो जायँ। कलाकारों की आकांक्षाओं और सौन्दर्य्य के आदर्शों में सारे भेद-भाव और विश्रृंखलताएँ विलीन हो जाती हैं। कला के राज्य में न हिन्दू-मुसलिम का भेद है, न क्रिश्चियन, पारसी, बौद्ध का; वे विभिन्न वाणियों में बोल सकते हैं किन्तु प्रत्येक वाणी समान और प्रभावशाली स्वर के वैभव में मिल कर एकरूप हो जाती है। जब मैं एकभारत की एकता के विषय में सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि यह एकता सर्वप्रथम कलाकारों के जगत में प्रारम्भ होनी चाहिये। तभी वह उन अन्यान्य क्षेत्रों में फैलेगी जो भारतीय राष्ट्र के अङ्ग हैं।

जो बात भारत के विषय में वही सारे विश्व के कलाकारों के लिए भी सत्य है। विश्व का नवजागरण कलाकारों पर ही निर्भर करता है, दूसरे किसी आधार पर वह टिक नहीं सकता।"

लोक-मानस के इसी भावी निर्म्माण की दिशा में आज का युग कलाकारों का आह्वान कर रहा है—'उठो आज भारत के पटधर! रङ्ग-रङ्ग से निःसृत', 'लोकसृजन से विश्वमञ्च का भरो सकल रङ्गस्थल'—

"आज तुम्हारी स्वप्न-निशा की
जागृति का है प्रथम प्रहर
मङ्गलमय शृङ्गार करो
जन-मन-प्राणों का अजर-अमर।"

काशी,
६-१०-४६